आचार्यश्री तुलसी

[विद्वानों, विचारकों व जन-नेताओं की दृष्टि में]

भाग १

भूमिका

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी

सम्पादक

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

१९६४

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

भूमिका

◈

प्रस्तुत पुस्तक केवल प्रशस्ति-संग्रह ही नहीं है, यह विचार-रत्नों की मंजूषा भी है। वर्तमान में साहित्य की नाना धाराएँ विकसित हुई हैं। उनमें परमोपयोगी धारा चिन्तन-प्रधान साहित्य की है। शोध की धारा अतीत का रूप हमारे सामने लाती है, पर मनुष्य तो आज अपने वर्तमान को बनाने में व्यग्र है। आज का मनुष्य स्वयं स्रष्टा है। वह इतिहास पढ़ने की अपेक्षा इतिहास गढ़ने में अधिक विश्वास रखता है। आज जो प्रशासन-सूत्र और अर्थ-व्यवस्थाएँ बदलीं और बदली जा रही हैं, वे किसी प्राचीन दर्शन या इतिहास के आधार र नहीं, वे मनुष्य के वर्तमान चिन्तन और वर्तमान विवेक के आधार पर बदली , और बदली जा रही हैं। प्रस्तुत पुस्तक में जीवन और समाज की गम्भीर याख्याएँ तत्र-यत्र ही नहीं, सर्वत्र सुलभ हैं।

प्रश्न होता है, दुःख मानसिक है या परिस्थितिजन्य ? परिस्थिति दुःख की नमित्त है, पर स्रष्टा नहीं। मनुष्य का मनोबल दुःख को सुख में भी बदल सकता है। सामान्यतया माना जाता है, अमीरी सुख का कारण है, गरीबी दुःख का कारण है। 'विचारणीय यह है कि वास्तव में गरीब कौन है ? एक व्यक्ति के पास दस हजार रुपए हैं। वह चाहता है कि बीस हजार हो जाएँ, तो आराम से जिन्दगी कट जाए। दूसरे के पास एक लाख रुपया है, वह भी चाहता है कि एक करोड़ हो जायें तो शान्ति से जीवन बीते। तीसरे के पास एक करोड़ रुपया है, वह भी चाहता है, दस करोड़ हो जाएँ तो देश का बड़ा उद्योगपति बन जाऊँ। अब देखना यह है कि गरीब कौन है ? पहले व्यक्ति को दस हजार की गरीबी है, दूसरे की निन्यानवे लाख की और तीसरे की नौ करोड़ की। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो वास्तव में तीसरा व्यक्ति ही अधिक गरीब है; क्योंकि पहले की वृत्तियाँ जहाँ दस हजार के लिए, दूसरे निन्यानवे लाख के लिए तड़पती हैं, वहाँ तीसरे की नौ करोड़ के लिए।

तात्पर्य यह है कि गरीबी का अन्त असन्तोष है और असन्तोष ही अर्थ-संख्या का सबसे बड़ा अभाव है। संग्रह के जिस बिन्दु पर मनुष्य सन्तोष को प्राप्त होता है, वहीं उसकी गरीबी का अन्त हो जाता है। यह बिन्दु यदि पाँच अथवा पाँच हजार पर भी लग गया, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। हमारे देश की प्राचीन परम्परा में तो वे ही व्यक्ति सुखी और समृद्ध माने गए हैं, जिन्होंने कुछ भी संग्रह न रखने में सन्तोष किया है। ऋषि, महर्षि, साधु-सन्यासी गरीब नहीं कहलाते थे और न कभी अर्थाभाव का दुःख ही व्याप्त था।"[1]

विज्ञान का युग है। क्षेत्र की दूरी सिमिट रही है, काल की दूरी भी सीमिट रही है, पर मनुष्य, मनुष्य के बीच मनों की दूरी ज्यों की त्यों बनी ही पड़ी है। अब दूरी को भी सीमित करने का कोई मार्ग है या वह बनी ही रहे? "आज के युग में हम कगार पर खड़े हैं। अन्तरिक्ष युग है। धरती की गोलाई को लेकर सुदूर व्यतीत में हत्याएँ हुई हैं। उसी तथ्य को आज का मानव आँखों से देख आया है। इस प्रगति ने मानस की पट-भूमि को आन्दोलित भी किया है। दृष्टि की क्षमता बढ़ी है। विवेक-बुद्धि भी जागृत हुई है। पर मानव का अन्तर-मन अभी भी वहीं है। हिंसा और घृणा की बात विवादास्पद मानकर छोड़ भी दें, लेकिन साम्प्रदायिकता और जातीयता, अर्थलोलुपता और मात्सर्य—ये सब उसे अभी भी पूरी तरह जकड़े हुए हैं। धर्म, मत अथवा पंथ में न हो, राजनीति और साहित्य में हो, तो क्या उसका विष अमृत बन सकता है? भले ही हम चन्द्रलोक में पहुँच जाएँ अथवा शुक्र पर शासन करने लगें। उस सफलता का क्या अर्थ होगा, यदि मनुष्य अपनी मनुष्यता से ही हाथ धो बैठे? मनुष्यता सापेक्ष हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए करने की कामनायें, अर्थात् 'स्व' को गौण करना स्व को उठाना है।"[2]

आर्थिक प्रगति वर्तमान समाज का एक अनुपेक्षणीय उद्घोष है। संयम प्रगति की सीमा-रेखा है। नवोदित समाज में संयम और प्रगति का सह-अस्तित्व एक प्रश्न चिह्न है। पर हम देखेंगे, इस प्रश्न चिह्न के सामने उत्तर भी अपना पूर्ण विराम लिये खड़ा है। "यह सच है कि दरिद्रता अच्छी चीज

---

[1] ... स्वयं एक संस्था, भाग १, पृष्ठ ११-१४। ले० सेठ गोविन्ददास

[2] ... के पोषक, प्रचारक व उन्नायक, भा० १, पृष्ठ ४८-४९; लेखक श्री विष्णु प्रभाकर

नहीं है और आधुनिक समाज को, एक निश्चित मात्रा में कम-से-कम भौतिक सुख-सुविधा तो सबको मिले, ऐसा प्रबन्ध करना होता है। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नहीं है और न जरूरतें बढ़ा देना प्रगति की निशानी है। हमें भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक संतुलन उपस्थित करना होगा। यह ध्यान प्रतिदिन रखना होगा कि आर्थिक संयोजन में लक्ष्यों को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए भी अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करने का काम भी करते रहना है। नहीं तो हम ऐसे मार्ग पर चल पड़ेंगे, जो हमारी संस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के प्रतिकूल होगा।"[1]

व्यक्ति प्रतीक होता है, विचार पूजा है। अणुव्रत-आन्दोलन एक विचार ही नहीं, परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। वह नाना विचारकों के उर्वर चिन्तन से दिन-प्रतिदिन समृद्ध बनता जा रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन की वेदिका पर बैठकर देश के चिन्तकों, लेखकों व वक्ताओं ने जन-जीवन की अनगिन समस्याओं पर विचार किया है। उन विकीर्ण विचार कणों का कलात्मक संयोजन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' कर रहे हैं। कुछ समय पूर्व 'अणुव्रत की ओर' दो भागों का संकलन-संपादन उन्होंने किया था। इस दिशा में उनका यह तीसरा संकलन है।

अणुव्रत-आन्दोलन के इतिहास में मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का स्थान कुछ कम-अधिक वैसा ही समझा जा सकता है, जैसा कि पंच शील के इतिहास में भिक्षु महेन्द्र का। उनका कार्य-क्षेत्र लंका रहा है और इनका कार्य-क्षेत्र दिल्ली। वर्तमान चातुर्मास में भी, वे वहीं एकादश सतीर्थ्य साधु-साध्वियों के साथ अणुव्रत कार्यक्रमों का दायित्वपूर्ण संचालन कर रहे हैं। मैं उनके सत् प्रयत्नों की सफलता चाहता हूँ।

वि० सं० २०२०, कार्तिक शुक्ला ३,
बोधिस्थल, राजनगर

—मुनि नगराज

---

१. लेख—भौतिक और नैतिक संयोजन, भाग १, पृ० १९-२०; [illegible]

सम्पादकीय

◈

१ मार्च, १९६२ की बात है। गंगाशहर (बीकानेर) में अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के २५ वें पदारोहण वर्ष के उपलक्ष में धवल समारोह मनाया गया। भारत के तत्कालीन उप-राष्ट्रपति और वर्तमान राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् ने 'तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ' आचार्यवर को भेंट किया। विस्तृत आकार में ७८८ पृष्ठों का यह अभिनन्दन ग्रन्थ राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों व विचारकों द्वारा सम्पादित था। सम्पादक मण्डल के सदस्य थे :

श्री जयप्रकाश नारायण	मुनिश्री नगराजजी
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल	श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री के० एस० मुन्शी	श्री एन० के० सिद्धान्त
श्री हरिभाऊ उपाध्याय	श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री मुकुट बिहारी वर्मा	श्री जवरमल भण्डारी

श्री अक्षयकुमार जैन प्रबन्ध सम्पादक थे और श्री मोहनलाल कठौतिया व्यवस्थापक थे। जैसा संपादक मण्डल था, उतना ही उच्चस्तरीय ग्रन्थ बन पाया था। समग्र ग्रन्थ चार अध्यायों में बटा था।

प्रथम—श्रद्धा, संस्मरण, कृतित्व

द्वितीय—जीवन-वृत्त

तृतीय—अणुव्रत

चतुर्थ—दर्शन और परम्परा

अभिनन्दन ग्रन्थ भारवान होने की स्थिति में सीमित लोगों तक ही पहुँच पाया। अपेक्षित लगा, पृथक्-पृथक् अध्यायों का स्वतन्त्र उपयोग यदि किया जाए तो ग्रन्थ-सामग्री बहुजन-भोग्य बन सकती है। प्रस्तुत पुस्तक मुख्यतः अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रथम अध्याय का आकलन है। विषयपरक अन्य उपयोगी सामग्री भी इसमें जोड़ दी गई है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, अभिनन्दन-

पत्रक सामग्री की अपेक्षा में यह पूरा 'तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ' है। पाठक पाएँगे, इसमें आचार्यश्री तुलसी को देश-विदेश के विद्वानों, विचारकों, जन-नेताओं व चिन्तकों की वाणी में।

मैं कृतज्ञ हूँ, आदरणीय मुनिश्री नगराजजी के प्रति, जिन्होंने मेरे निवेदन पर अपनी कार्य-व्यस्तता में भी भूमिका लिखने का कष्ट उठाया। श्री जयप्रकाश के शब्दों में "अभिनन्दन ग्रन्थ के संपादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है।" प्रस्तुत पुस्तक जब कि उसी ग्रन्थ का रूपान्तर मात्र है तो मुनिश्री सहज ही उसकी शालीनता के श्रेयोभाग् हो जाते हैं। समग्र धवल समारोह के वे मुख्य बिन्दु रहे हैं और अणुव्रत परामर्शक उनकी परिचायक ख्याति है।

वि॰ सं॰ २०२०, कार्तिक शुक्ला सप्तमी —मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
कठौतिया भवन,
सब्जी मण्डी, दिल्ली

अनुक्रम

आचार्यश्री तुलसी

डा० सम्पूर्णानन्द
राज्यपाल, राजस्थान

मेरी अनुभूति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी राजनीतिक क्षेत्र से बहुत दूर हैं। किसी दल या पार्टी से सम्बन्ध नहीं रखते। किसी वाद के प्रचारक नहीं हैं, परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त करने के इन सब मार्गों से दूर रहते हुए भी वे इस काल के उन व्यक्तियों में हैं, जिनका न्यूनाधिक प्रभाव लाखों मनुष्यों के जीवन पर पड़ा है। वे जैन-धर्म के सम्प्रदाय-विशेष के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए आचार्य कहलाते हैं। अपने अनुयायियों को जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों का अध्यापन कराते ही होंगे, श्रमणों को अपने सम्प्रदाय-विशेष के नियमादि की शिक्षा-दीक्षा देते ही होंगे; परन्तु किसी ने उनके या उनके अनुयायियों के मुंह से कोई ऐसी बात नहीं सुनी जो दूसरों के चित्त को दुखाने वाली हो।

भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि यहां के धार्मिक पर्यावरण की धर्म पर आस्था रखी जा सकती है और उसका उपदेश किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी एक दिन मेरे निवास-स्थान पर रह चुके हैं। मैं उनके प्रवचन सुन चुका हूं। अपने सम्प्रदाय के आचारों का पालन तो करते ही हैं, चाहे अप-रिचित होने के कारण वे आचार दूसरों को विचित्र से लगते हों और वर्तमान काल के लिए कुछ अनुपयुक्त भी प्रतीत होते हों; परन्तु उनके आचरण और बातचीत में ऐसी कोई बात नहीं मिलेगी जो अन्य मतावलम्बियों को अरुचिकर लगे। भारत सदा से तपस्वियों का आदर करता आया है। उपासना शैली और दार्शनिक मन्तव्यों का आदर करना अत्यावश्यक होते हुए भी हम चरित्र और त्याग के सामने सिर झुकाते हैं। हमारा तो यह विश्वास है—यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया—जिस किसी देश, जिस किसी

समय, महापुरुष का जन्म हो, वह जिस किसी नाम से पुकारा जाता हो, वीतरा तपस्वी पुरुष सदैव आदर का पात्र होता है। इसलिए हम सभी आचा तुलसी का अभिनन्दन करते हैं। उनके प्रवचनों से उस तत्त्व को ग्रहण करं की अभिलाषा रखते हैं जो धर्म का सार और सर्वस्व है तथा जो मनुष्य मा के लिए कल्याणकारी है।

भारतीय संस्कृति ने धर्म को सदैव ऊँचा स्थान दिया है। उसकी परिभाषाएँ ही उसकी व्यापकता की द्योतक हैं। कणाद ने कहा है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः — जिससे इस लोक और परलोक में उन्नति हो और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो वह धर्म है। मनु ने कहा—धारणात् धर्मः—समाज को जो धारण करता है, वह धर्म है। व्यास कहते हैं—धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किन्न सेव्यते—धर्म से अर्थ और काम दोनों बनते हैं, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता? इस पाठ को भुलाकर भारत अपने को, अपनी भारतीयता को खो बैठेगा, न वह अपना हित कर सकेगा और न संसार का ही कल्याण कर सकेगा।

भौतिकता की घुड़-दौड़

इस समय जगत् में भौतिक वस्तुओं के लिए जो घुड़दौड़ मची हुई है, भारत भी उसमें सम्मिलित हो गया है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होना पाप नहीं है, अपनी रक्षा के साधनों से सज्जित होना बुरा नहीं है; परन्तु भारत इस दौड़ में अपनी आत्मा को खोकर सफल नहीं हो सकता। अनियन्त्रित स्पर्धा में सब प्राप्त हो जाए तो वह धन अनैतिक और अकरणीय कर्मों की ओर ले जाता है। वस्तुतः अब वैसी नर-संहारकारी वस्तुओं का मार्ग दिखलाता है। [illegible] करते जा रहे हैं। बात तो बुरी नहीं है; पर [illegible] यदि वह राम युग का पुतला बना रहा, यदि [illegible] और पर सम्पत्ति का संग्रह ही उसके [illegible] दूसरे [illegible] की भी पृथ्वी की भाँति [illegible] दिया। यदि वह [illegible] का प्राणी [illegible] और [illegible] के साथ [illegible] के लिए [illegible] अनिवार्य हो जाएगा

गार एक दिन उस अपने ही हाथों महल। वर्षों से अर्जित संस्कृति और सभ्यता
की पोथी पर हरताल फेरनी होगी।

लोभ की आग सर्वग्राही होती है। व्यास ने कहा है :

> नाच्छित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
> नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरों के मर्म का छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म किये, बिना मत्स्य-घाती की भाँति हनन किये (जिस प्रकार धीवर अपने स्वार्थ के लिए निर्दयता से सैकड़ों मछलियों को मारता है) महती श्री प्राप्त नहीं हो सकती। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य और मनुष्यों का समूह अन्धा हो जाता है, उसके लिए कोई काम, कोई पाप, अकरणीय नहीं रह जाता। लोभ और लोभजन्य मानस उस समय पतन की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब मनुष्य अपनी परपीड़न-प्रवृत्ति को परहितकारक प्रवृत्ति के रूप में देखने लगता है, किसी का शोषण-उत्पीड़न करते हुए यह समझने लगता है कि मैं उसका उपकार कर रहा हूँ। बहुत दिनों की बात नहीं है, यूरोप वालों के साम्राज्य प्रायः सारे एशिया और अफ्रीका पर फैले हुए थे। उन देशों के निवासियों का शोषण हो रहा था, उनकी मानवता कुचली जा रही थी, उनके आत्म-सम्मान का हनन हो रहा था, परन्तु यूरोपियन कहता था कि हम तो कर्तव्य का पालन कर रहे हैं, हमारे कन्धों पर ह्वाइट मैंस बर्डन (गोरे मनुष्य का बोझ) है, हमने अपने ऊपर इन लोगों को ऊपर उठाने का दायित्व ले रखा है। धीरे-धीरे इनको सभ्य बना रहे हैं। सभ्यता की कसौटी भी पृथक्-पृथक् होती है। कई साल हुए, मैंने एक कहानी पढ़ी थी। थी तो कहानी ही, पर रोचक भी थी और पश्चिमी सभ्यता पर कुछ प्रकाश डालती हुई भी। एक फ्रेंच पादरी अफ्रीका की किसी नर-मांस-भक्षी जंगली जातियों के बीच काम कर रहे थे। कुछ दिन बाद लौटकर फ्रांस गये और एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने अपनी सफलता की चर्चा की। किसी ने पूछा, "क्या अब उन लोगों ने नर-मांस खाना छोड़ दिया है ?" उन्होंने कहा, "नहीं; अभी ऐसा तो नहीं हुआ, पर अब वो ही हाथ से खाने के स्थान पर छुरी-काँटे से खाने लगे हैं।" मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय पतन पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब मनुष्य की आत्म-वञ्चना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि पाप पुण्य बन जाता है। विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात शत-

मूल। एक लोभ पर्याप्त है, सभी दूसरे दोष आनुषंगिक बनकर उसके साथ चले आते हैं। जहाँ भौतिक विभूति को मनुष्य के जीवन में सर्वोच्च स्थान मिलता है, वहाँ लोभ से बचना असम्भव है।

असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ

हम भारत में वेलफेयर स्टेट—कल्याणकारी राज्य—की स्थापना कर रहे हैं और 'कल्याण' शब्द की भौतिक व्याख्या कर रहे हैं। परिणाम हमारे सामने है। स्वतन्त्र होने के बाद चरित्र का उन्नयन होना चाहिए था, त्याग की वृत्ति बढ़नी चाहिए थी, परार्थ-सेवन की भावना में अभिवृद्धि होनी चाहिए थी। सब लोगों में उत्साहपूर्वक लोकहित के लिए काम करने की प्रवृत्ति दीख पड़नी चाहिए थी। एड़ी-चोटी का पसीना एक करके राष्ट्र की हित-वेदी पर सर्वस्व न्यौछावर करना था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। स्वार्थ का बोलबाला है। राष्ट्रीय चरित्र का घोर पतन हुआ है। कर्तव्यनिष्ठा ढूँढे नहीं मिलती। व्यापारी, सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, डाक्टर किसी में लोकसंग्रह की भावना नहीं है। सब रुपया बनाने की धुन में हैं, भले ही राष्ट्र का अहित हो जाए। काम से जी चुराना, अधिक-से-अधिक पैसा लेकर कम-से-कम काम करना, यह साधारण-सी बात हो गई है। हम करोड़ों रुपया व्यय कर रहे हैं, परन्तु उसके आधे का भी लाभ नहीं उठा रहे हैं। लोभ सर्वव्यापी हो रहा है और उसके साथ असत्य का साम्राज्य फैला हुआ है। असत्य-भाषण, असत्य आचरण और सर्वोपरि असत्य चिन्तन। एक बार १९१३ में महात्माजी ने कहा था कि हमारे चरित्र में यह दोष है कि हमारी 'हाँ' का अर्थ 'हाँ' और हमारे 'नहीं' का अर्थ 'नहीं' नहीं होता। यह दोष आज भी हम में वैसा ही है। परन्तु असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ नहीं उठ सकता। दुर्बल चरित्र देश को ले डूबेगा और मानव-समाज का भी अहित करेगा। इसीलिए महात्माजी ने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया था। उनका यह विश्वास था कि 'धर्म का महत्त्व राष्ट्र में कम नहीं होता।' वह राजनीति में भी सत्य और अहिंसा को अनिवार्य मानते थे और भावी भारत में धर्म को। अपनी कल्पना को [illegible] के साथ वे बराबर लोगों के सामने रखते रहे। आज वह [illegible] है। [illegible] ने उनके उपदेशों को सुना था, अब भी पढ़ते हैं, परन्तु उनको

अनुगमन प्रान कर रहा है : धर्म मूलक राज्य, रामराज्य की कल्पना पुस्तकों के पन्नों मे ही रह गई।

चरित्र की गिरावट की गति अबाध है। इससे घबराकर कुछ लोगो का ध्यान स्व० श्री बुकमैन और उनके 'मॉरल रिआर्मामेंट' (नैतिक पुनरुत्थान) कार्यक्रम की ओर गया। कार्यक्रम भले ही अच्छा हो, पर हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भिन्न हैं और हम कम्युनिज्म के विरोध के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन नही कर सकते। उससे हमारा काम नही चल सकता। हमारी अपनी मान्यताएँ हैं, परम्पराएँ हैं, विश्वास हैं, हमारे अनुकूल वही उपदेश हो सकते है जो हमारी अनुभूतियो पर अवलम्बित हो, जिनकी जड़ें हमारे सहस्रों वर्षों के आध्यात्मिक धरातल से जीवन-रस ग्रहण करती हो।

समाज संगठन का भारतीय व पश्चिमी आधार

पश्चिम के समाज-संगठन का आधार है—प्रतिस्पर्धा ; हमारा आधार है—सहयोग। हम सभूय समुत्थान के प्रतिपादक हैं, पश्चिम मे व्यक्तियो और समुदायो के अधिकारों पर जोर दिया जाता है ; हम कर्तव्यो, धर्मों पर जोर देते हैं, इस भूमिका मे जो उपदेश दिया जायेगा, वही हमारे हृदयो मे प्रवेश कर सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने इस रहस्य को पहचाना है। वह स्वयं जैन हैं, पर जनता को नैतिक उपदेश देते समय वह धर्म के उस मच पर खड़े होते हैं, जिस पर वैदिक, बौद्ध, जैन आदि भारत-सम्भूत सभी सम्प्रदायों का समान रूप से अधिकार है। वह बालब्रह्मचारी हैं, साधु हैं, तपस्वी हैं, उनकी वाणी में ओज है। इसलिए उनकी बातों को सभी श्रद्धापूर्वक सुनते हैं। कितने लोग उनके उपदेश को व्यवहार मे लाते हैं, वह न्यारी कथा है ; परन्तु सुनने मात्र से भी कुछ लाभ तो होता ही है और फिर : रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निसान।

आचार्यश्री लोगो से जिन बातों का संकल्प कराते हैं, वे सब घूम-फिर कर अहिंसा या अस्तेय के अन्तर्गत हो आती हैं। पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महाव्रत कहा है और यह ठीक भी है। इनमे से

किसी एक को भी निवाहना कठिन होता है और एक के निवाहने के प्रयत्न
सबको ही निबाहना अनिवार्य हो जाता है। एक को पकड़कर दूसरों से ब
नहीं जा सकता। मान लीजिये कि कोई यह संकल्प करता है कि मैं आज
रिश्वत नहीं लूंगा और किसी माल में मिलावट नहीं करूंगा। संकल्प पू
करने के लिए ही तो किया जायेगा, तोड़ने के लिए नहीं। पद-पद पर प्रलो
आते हैं, पुराने संस्कार नीचे की ओर खींचते हैं। लोभ का संवरण कर
कठिन होता है। चित्त डावांडोल हो जाता है। वह जिन किन्हीं दैवी शक्ति
पर विश्वास करता हो, उनसे शक्ति की याचना करता है कि मेरा यह संक
कहीं टूट न जाये। मैं मिथ्याचरण को छोड़कर सत्याचरण की ओर आता
कहीं परीक्षा में डिग न जाऊँ। वैदिक शब्दों में वह यह कहता है—अग्ने, व्रतप
व्रत चरिष्यामि, तच्छकेयम् तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—हे दोष
को दूर करके पवित्र करने वाले भगवन्! हे व्रतों के स्वामी, मैं व्रत क
आचरण करने जा रहा हूँ। मुझको शक्ति दीजिये कि मैं उसे पूरा कर सकूँ,
उसको सम्पन्न कीजिये, मैं अनृत को छोड़कर सत्य को अपनाता हूँ। व्रत क
निभ जाना, प्रलोभनों पर विजय पाना, सरल काम नहीं है। बड़े भाग्य
इसमें सफलता मिलती है; और यह भी निश्चित है कि व्रती की गति एक व्र
पर ही अवरुद्ध न होगी। एक व्रत उसको दूसरे व्रत की ओर ले जायेगा। ए
को पूरा करने के लिए युगपत् सबको अपनाना होगा; और जो आरम्भ मे
परम अणु प्रतीत होता रहा हो, वह अपने वास्तविक रूप में बहुत बड़ा बन
जायेगा। इसी से तो कहा कि स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्
इसीलिए मैं कहता हूँ कि वस्तुतः कोई भी व्रत अणु नहीं है। किसी एक छोटे-से
व्रत को भी यदि ईमानदारी से निबाहा जाए तो वह मनुष्य के सारे चरित्र को
बदल देगा।

आचार्यश्री तुलसी के प्रवचनों में तो बहुत लोग दीख पड़ते हैं, स्त्रियाँ भी
बहुत-सी दीख पड़ती हैं। सेठ-साहूकारों का भी जमघट रहता है। इसी से मैं
घबराता हूँ। हमारे देश में साधुओं के दरबार में जाने और उनके उपदेशों का
पर्लैमाउ विधि से सुनने का बड़ा चलन है। ऐसे लोग न आवें तो अच्छा है।
...मने पहले उन लोगों को प्रभावित करना है जो समाज का नेतृत्व कर रहे हैं।
...स वर्ग को आकृष्ट करता है। इसी वर्ग में से शिक्षक, अध्यापक, डाक्टर,

इंजीनियर, राजनीतिक नेता, सरकारी कर्मचारी निकलते हैं। यदि इन लोगों का चरित्र सुधरे तो समाज पर शीघ्र और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े। मैं ग्राशा करता हूँ कि ग्राचार्यश्री का ध्यान मेरे इस निवेदन की ग्रोर जाएगा। भगवान् उनको चिरायु ग्रौर उनके ग्रभियान को सफल करे।

व्यक्ति नहीं, स्वयं एक संस्था

सेठ गोविन्ददास, एम० पी०

मानव, पूर्ण पुरुष परमात्मा की एक अपूर्ण कृति है, और मानव ही क्यों यह सारी सृष्टि ही, जिसका वह नायक बना है, अपूर्ण ही है। जब मानव अपूर्ण है, उसकी सृष्टि अपूर्ण है, तो निश्चय ही उसके कार्य-व्यापार भी अपूर्ण ही रहेंगे। मेरी दृष्टि में मनुष्य का अस्तित्व इस जगती पर उस सूर्य की भाँति है जो अन्तरिक्ष से अपनी प्रकाश-किरणें भू-मण्डल पर फेंक एक निश्चित समय बाद उन्हें फिर अपने में समेट लेता है। इस बीच सूर्य-किरणों का यह प्रकाश जगती को न केवल आलोकित करता है, वरन उसमें नित-नूतन जीवन भरता है और समभाव से सदा सबको प्राण-शक्ति से प्लावित रखता है। यदि सूर्य को हम एक पूर्ण तत्व मानकर उसकी अनन्त किरणों को उसके छोटे-छोटे अनन्त अपूर्ण अणु-रूपों की संज्ञा दे सकते हैं। यही स्थिति पुरुष और परमेश्वर की है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा भी है : ईश्वर अंश जीव अविनाशी— अर्थात् मानव-रचना ईश्वर के अणुरूपों का ही प्रतिरूप है, जो समय के साथ अपने मूल रूप से पृथक् और उसमें प्रविष्ट होता रहता है। सूर्य-किरणों की भाँति उसका अस्तित्व भी क्षणिक होता है, पर समय की यह स्वल्पता, आयु की यह अल्पता होते हुए भी मानव की शक्ति, उसकी सामर्थ्य समय की सहचरी न होकर एक अतुल, अटूट और अखण्ड शक्ति का ऐसा स्रोत होती है, जिसकी तुलना में आज सहस्रांशु की वे किरणें भी पीछे पड़ जाती हैं जो जगती की जीवनदायिनी हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों की यह उक्ति 'Where the sun cannot rise the doctor does enter there' कितनी यथार्थ है ! फिर आज के वैज्ञानिक युग में मानव की अन्तरिक्ष-यात्राएँ और ऐसे ही अनेकानेक चामत्कारिक अन्वेषण, जो किसी समय सर्वथा अकल्पनीय और अलौकिक थे, आज हमारे मन में आश्चर्य का भाव भी जागृत नहीं करते। इस प्रकार की

शक्ति और सामर्थ्य से भरा यह अपूर्ण मानव, आज अपने पुरुषार्थ के बल पर, प्रकृति के साथ प्रतिस्पर्धी बना खड़ा है।

जगती में सनातन काल से प्रधान रूप में सदा ही दो बातों का द्वन्द्व चलता रहा है। सूर्य जब अपनी किरणें समेटता है तो अवनि पर सघन अन्धकार छा जाता है। अर्थात् प्रकाश का स्थान अन्धकार और फिर अन्धकार का स्थान प्रकाश ले लेता है। यह क्रम अनन्त काल से अनवरत चलता रहता है। इसी *प्रकार मानव के अन्दर भी यह द्वैत का द्वन्द्व गतिशील* होता है। इसे हम अच्छे और बुरे, गुण और दोष, ज्ञान और अज्ञान तथा प्रकाश और अन्धकार आदि अगणित नामों से पुकारते हैं। इन्हीं गुण-दोषों के अनन्त—अगणित भेद और उपभेद होते हैं, जिनके माध्यम से मानव, जीवन में उन्नति और अवनति के मार्ग में अभ्यास से अनायास ही अग्रसर होता है। यहाँ हम मानव-जीवन के इसी अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित पक्ष पर विचार करेंगे।

जीवन की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि

भारत धर्म-प्रधान देश है, पर व्यावहारिक सचाई में बहुत पीछे होता जा रहा है। भारतीय लोग धर्म और दर्शन की तो बड़ी चर्चा करते हैं, यहाँ तक उनके दैनिक जीवन के कृत्य, वाणिज्य-व्यवसाय, यात्राएँ, वैवाहिक सम्बन्ध आदि जैसे कार्य भी दान-पुण्य, पूजा-पाठ आदि धार्मिक वृत्तियों से ही आरम्भ होते हैं; किन्तु कार्यों के आरम्भ और अन्त को छोड़ जीवन की जो एक लम्बी मंजिल है, उसमें व्यक्ति धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष से सदा ही उदासीन रहता है। इस धर्म-प्रधान देश के मानव में व्यावहारिक सचाई में प्रामाणिकता के स्थान पर आडम्बर और आधिभौतिक शक्तियों का आधिपत्य होता जा रहा है। *जीवन में जब व्यावहारिक सचाई नहीं, प्रामाणिकता नहीं, तो धर्माचरण* कैसे सम्भव है! इसके विपरीत भौतिकवादी माने जाने वाले देशों की जब भारतीय यात्रा करते हैं तो वहाँ के निवासियों की व्यवहारगत सचाई और प्रामाणिकता की प्रशंसा करते हैं। दूसरी ओर जो विदेशी भारत की यात्रा करते हैं, उन्हें *यहाँ की ऊँची दार्शनिकता के प्रकाश में प्रामाणिकता का अभाव खलता* है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह धर्माचरण जीवन-शुद्धि के लिए नहीं; पुनर्जन्म की शुद्धि के लिए है। किन्तु यहाँ भी हम भूल रहे

हैं। जब यह जीवन ही शुद्ध नहीं हुआ तो अगला जन्म कैसे शुद्ध होगा? यह सुनिश्चित है कि उपासना की अपेक्षा जीवन की सचाई को प्राथमिकता दिये बिना इस जन्म की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि सर्वथा असम्भव है।

प्रश्न उठता है कि जीवन की यह सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि कैसे हो सकती है? स्पष्ट है कि चारित्रिक विकास के बिना जीवन की यह प्राथमिक और महान् उपलब्धि सम्भव नहीं। चरित्र का सम्बन्ध किसी कार्य-व्यापार तक ही सीमित नहीं, अपितु उसका सम्बन्ध जीवन की उन मूल प्रवृत्तियों से है जो मनुष्य को हिंसक बनाती हैं। शोषण, अन्याय, असमानता, असहिष्णुता, आक्रमण दूसरे के प्रभुत्व का अपहरण या उसमें हस्तक्षेप और असामाजिक प्रवृत्तियां; ये सब चरित्र-दोष हैं। प्रायः सभी लोग इनमें आक्रान्त हैं। भेद प्रकार का है। कोई एक प्रकार के दोष से आक्रान्त है, तो दूसरा दूसरे प्रकार के दोष से। कोई कम मात्रा में है, तो कोई अधिक मात्रा में है। इस विभेद—विषमता के विष की व्याप्ति का प्रधान कारण शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था का दोषपूर्ण होना माना जा सकता है। आज की जो शिक्षा व्यवस्था है, उसमें चारित्रिक विकास की कोई निश्चित योजना नहीं है। भारत की प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजना में भारत के भौतिक विकास के प्रयत्न ही सन्निहित थे। कदाचित् भूखे भजन न होई गोपाला और भारत काह न करे कुकर्म की उक्ति के अनुसार भूखों की भूख मिटाने के प्राथमिक मानवीय कर्तव्य के नाते यह उचित भी था; किन्तु चरित्र-बल के बिना भर-पेट भोजन पाने वाला कोई व्यक्ति या राष्ट्र आज के प्रगतिशील विश्व में प्रतिष्ठित होना तो दूर, कितनी देर खड़ा रह सकेगा, यह एक बड़ा प्रश्न है। अतः उदरपूर्ति के यत्न में अपने परम्परागत चरित्र-बल को नहीं गंवा बैठना चाहिए। यह हर्ष का विषय है कि तृतीय पचवर्षीय योजना में इस दिशा में कुछ प्रयत्न अन्तर्निहित है। हमारी शिक्षा कैसी हो, यह भी एक गम्भीर प्रश्न है। बड़े-बड़े विशेषज्ञ इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। अनेक तथ्य और तर्क शिक्षा के उज्ज्वल पक्ष के सम्बन्ध में दिये जाते रहे हैं और दिये जा सकते हैं। निश्चित ही भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़े हैं; किन्तु आज [illegible]क विकास एक असन्तुलित विकास है। कोरा-ज्ञान भयावह है, कोरा [illegible] है और नियन्त्रणहीन गति का अन्त खतरनाक। दृष्टि ही [illegible] की धुरी है। दृष्टि शुद्ध है तो ज्ञान शुद्ध होगा; दृष्टि विकृत

होगी तो ज्ञान विकृत हो जायेगा, चरित्र दूषित हो जायेगा। इस दृष्टि-दोष से हम सभी बहुत बुरी तरह ग्रसित हैं। भाषा, प्रान्त, राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता के दृष्टि-दोष के जो दृश्य देश में आज जहाँ-तहाँ देखने को मिल रहे हैं, ये यहाँ के चारित्रिक ह्रास के ही परिचायक हैं। घृणा, संकीर्ण मनोवृत्ति और पारस्परिक अविश्वास के भयावह अन्तराल में भारतीय आज ऐसे डूब रहे हैं कि ऊपर उठकर बाहर की हवा लेने की बात सोच ही नहीं पाते। इस भयावह स्थिति को समय रहते समझना है, अपने आपको सम्भालना है। यह कार्य चरित्र-बल से ही सम्भव है और चरित्र को सजोने के लिए शिक्षा में सुधार अपरिहार्य है। प्रश्न है—वह शिक्षा कैसी हो?

संक्षेप में जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक यदि हमें पहुँचना है, तो ऐसे जीवन के लिए निश्चित वही शिक्षा उपयोगी होगी, जिसे हम संयम की शिक्षा की संज्ञा दे सकते हैं। संयमी जीवन में सादगी और सरलता का अनायास ही सम्मिश्रण होता है और जहाँ जीवन सादगी से पूर्ण होगा, उसमें सरलता होगी, वहाँ कर्तव्य-निष्ठा बढ़ेगी ही। कर्तव्य-निष्ठा के जागृत होने से व्यक्ति-निर्माण का वह कार्य जो आज के युग की, हमारी शिक्षा की, उसके स्तर के सुधार की माँग है, सहज ही पूरा जायेगा।

उन्नति की धुरी

अर्थ-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। अर्थ-व्यवस्था सुधरे बिना चरित्रवान् बनने में कठिनाई होती है और चरित्रवान् बने बिना समाजवादी समाज बने, यह भी सम्भव नहीं है। इसीलिए यह आवश्यक है कि देश के कर्णधार योजनाओं के क्रियान्वयन में चरित्र-विकास के सर्वोपरि महत्त्व को दृष्टि से ओझल न करें। ईमानदारी चरित्र का एक प्रधान चरण है। यदि चरित्र नहीं तो ईमानदारी कहाँ से आयेगी, और जब ईमानदारी नहीं, तो इन दीर्घसूत्रीय योजनाओं से, जो आज क्रियान्वित हो रही हैं, आगे चलकर अर्थ-लाभ भले ही हो, पर अभिशाप में अविचार, असंयम और असमानता का ऐसा घेरा समाज में पड़ेगा, जिससे निकलना फिर आसान बात न होगी।

इस प्रकार देशोन्नति की धुरी चरित्र ही है। बिना चरित्र-विकास के देश का विकास असम्भव है। चरित्र-निर्माण का सम्बन्ध हमारी शिक्षा और अर्थ-

व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। इनके दोषपूर्ण होने पर निष्कलंक चरित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

आचार्य तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-निर्माण की दिशा में एक अभूतपूर्व आयोजन है। अणुव्रत का अर्थ है—छोटे व्रत।

स्वभाव से ही मानव अन्धकार की परिधि से बाहर निकल प्रकाश की ओर आने का इच्छुक होता है। व्रत ग्रहण में भी यही तथ्य निहित है। मानव-समाज में व्याप्त विषमता, बेईमानी और अनैतिकता जब व्यक्ति को दृष्टिगोचर होती है तो उसके अन्दर इस वैषम्य, वैमनस्य, शोषण और अनाचार को दूर करने की प्रवृत्ति जागृत होती है और सद्भावमूलक इस प्रवृत्ति के उदय होते ही त्याग की भावना से अभिभूत उसका अन्तःकरण व्रतों की ओर आकर्षित होता है। जीवन-सुधार की दिशा में व्रतों का महत्त्व सर्वोपरि है। व्रतों में प्रधानरूप से आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सिद्धान्त स्थापन करना जितना आसान है, उस पर अमल करना उतना ही कठिन, उसी प्रकार व्रत लेना तो आसान है, पर उसका निभाना बड़ा कठिन होता है। व्रत-पालन में स्व-नियमन व हृदय-परिवर्तन से बड़ी सहायता मिलती है।

अणुव्रत के पाँच प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार-संतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

अहिंसा—रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का निरोध या आत्मा की राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति है।

सत्य—अहिंसा का रचनात्मक या भाव-प्रकाशनात्मक पहलू है।

अचौर्य—अहिंसात्मक अधिकारों की व्याख्या है।

ब्रह्मचर्य—अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है।

अपरिग्रह—अहिंसा का परम-पदार्थ-निरपेक्ष रूप है।

व्रत हृदय-परिवर्तन का परिणाम होता है। बहुधा जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नहीं होता; अतः समाज की दुर्व्यवस्था को बदलने के लिए भी प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए आर्थिक दुर्व्यवस्था व्रतों से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती, किन्तु आत्मिक दुर्व्यवस्था मिटाने के लिए और संयत, सदाचारपूर्ण जीवन-यापन की दिशा में व्रत बहुत उपयोगी होते हैं। हृदय-परिवर्तन और व्रताचरण से जब आत्मिक दुर्व्यवस्था मिट जाती है तो

उससे आर्थिक दुर्व्यवस्था भी स्वतः सुधरती है और उसके फलस्वरूप सामाजिक दुर्व्यवस्था भी मिट जाती है।

व्यक्ति के चरित्र और नैतिकता का उसकी अर्थ-व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है। बुभुक्षितः किं न करोति पापम् की उक्ति के अनुसार भूखा आदमी क्या पाप नहीं कर सकता! इसके विपरीत किसी विचारक के इस कथन को भी कि संसार में हरएक मनुष्य की आवश्यकता भरने को पर्याप्त से अधिक पदार्थ हैं, पर एक भी व्यक्ति की आशा भरने को वह अपर्याप्त है,[१] हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। एक निर्धन निराशा से पीड़ित है तो दूसरा धनिक आशा से। यही हमारी अर्थ-व्यवस्था की सबसे बड़ी विडम्बना है। भगवान् महावीर ने आशा की अनन्तता बताते हुए कहा है: यदि सोने और चाँदी के कैलाश-तुल्य असंख्य पर्वत भी मनुष्य को उपलब्ध हो जायें तो भी उसकी तृष्णा नहीं भरती, क्योंकि धन असंख्य है और तृष्णा आकाश की तरह अनन्त।[२]

गरीब कौन ?

विचारणीय यह है कि वास्तव में गरीब कौन है? क्या गरीब वे हैं, जिनके पास थोड़ा-सा धन है? नहीं। गरीब तो यथार्थ में वे हैं जो भौतिक *दृष्टि से* समृद्ध होते हुए भी तृष्णा से पीड़ित हैं। एक व्यक्ति के पास दस हजार रुपये हैं। वह चाहता है,बीस हजार हो जाएँ तो आराम से जिन्दगी कट जाए। दूसरे के पास एक लाख रुपया है, वह भी चाहता है कि एक करोड़ हो जाएं शान्ति से जीवन बीते। तीसरे के पास एक करोड़ रुपया है, वह भी चाहता है, दस करोड़ हो जाएँ तो देश का बड़ा उद्योगपति बन जाऊँ। अब देखना यह है कि गरीब कौन है? पहले व्यक्ति को दस हजार की गरीबी है, दूसरे की निन्यानवे लाख की और तीसरे की नौ करोड़ की। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो वास्तव में तीसरा व्यक्ति ही अधिक गरीब है, क्योंकि पहले की वृत्तियाँ जहाँ दस हजार के लिए, दूसरे की निन्यानवे लाख के लिए तड़पती हैं, वहाँ तीसरे की नौ करोड़ के

---

१. There is enough for everyone's need but not everyone's greed.

२. सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलास समा असंखया।

लिए। तात्पर्य यह है कि गरीबी का प्रश्न गम्भीर है और प्रसन्तोष ही धर्य संग्रह का सबसे बड़ा प्रधार है। संग्रह के जिस बिन्दु पर मनुष्य सन्तोष को प्राप्त होता है, वहीं उसकी गरीबी का अन्त हो जाता है। यह बिन्दु यदि पांच अथवा पाँच हजार पर भी लग गया, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। हमारे देश की प्राचीन परम्परा में तो वे ही व्यक्ति सुखी और समृद्ध माने गए हैं, जिन्होंने कुछ भी संग्रह न रखने में सन्तोष किया है। ऋषि, महर्षि साधु-संन्यासी गरीब नहीं कहलाते थे और न कभी उन्हें अर्थाभाव का दुःख ही व्यापता था।

भगवान् महावीर ने मुच्छा परिग्गहो—मूर्च्छा को परिग्रह बताया है। परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। उन्होंने आगे कहा : वित्तेण ताण न लभे पमत्ते—धन से मनुष्य त्राण नहीं पा सकता। महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास ने कहा है :

उदरं भ्रियते यावत् तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

उदर-पालन के लिए जो आवश्यक है, वह व्यक्ति का अपना है; इससे अधिक संग्रह कर जो व्यक्ति रखता है, वह चोर है और दण्ड का पात्र है।

आधुनिक युग में अर्थ-लिप्सा से बचने के लिए महात्मा गांधी ने इसीलिए धनपतियों को सलाह दी थी कि वे अपने को उसका ट्रस्टी मानें। इस प्रकार हम देखते है हमारे सभी महज्जनों, पूर्व पुरुषों, सन्तों और भक्तों ने अधिक अर्थ-संग्रह को अनर्थकारी मान उसका निषेध किया है। उनके इस निषेध का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए अर्थ की आवश्यकता की दृष्टि से ओझल कर दिया हो। संग्रह की जिस भावना से समाज अनीति और अनाचार का शिकार होता है, उसे दृष्टि में रख व्यक्ति की भावनात्मक शुद्धि के लिए उसके दृष्टिकोण की परिशुद्धि ही हमारे महाजनों का अभीष्ट था। वर्तमान युग अर्थ-प्रधान है। आज ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो आर्थिक समस्या को ही देश की प्रधान समस्या मानते हैं। आज के भौतिकवादी युग में आर्थिक समस्या का यह प्राधान्य स्वाभाविक ही है। किन्तु चारित्रिक शुद्धि और आध्यात्मिकता को जीवन में उतारे बिना व्यक्ति, समाज और देश की उन्नति [illegible] परिकल्पना एक मृगमरीचिका ही है। अणु-आयुधों के इस युग में अणुव्रत एक [illegible] प्रयत्न है। एक ओर हिंसा के बीभत्स रूप को अपने गर्भ में छिपाये

अणुबमो से सुसज्जित आधुनिक जैट, रॉकेट, अन्तरिक्ष की यात्रा को प्रस्तुत है; दूसरी ओर आचार्यश्री तुलसी का यह अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से हिंसा, विषमता, शोषण, संग्रह और अनाचार के विरुद्ध अहिंसा, सदाचार, सहिष्णुता, अपरिग्रह और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्नरत है। मानव और पशु तथा अन्य जीव-जीवाणुओं में जो एक अन्तर है, वह है उसकी ज्ञान शक्ति का। निसर्ग ने अन्यों की अपेक्षा मानव को ज्ञान-शक्ति का जो विपुल-भण्डार सौंपा है, अपने इसी सामर्थ्य के कारण मानव सनातन काल से ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बना हुआ है। आज के विश्व में जबकि एक ओर हिंसा और बर्बरता का दावानल दहक रहा है तो दूसरी ओर अहिंसा और शान्ति की एक शीतल सरिता जन-मानस को उद्वेलित कर रही है। अब आज के मानव को यह तय करना है कि उसे हिंसा और बर्बरता के दावानल में झुलसना है अथवा अहिंसा और शांति की शीतल सरिता में स्नान करना है। तराजू के इन दो पलड़ों पर असन्तुलित स्थिति में आज विश्व रखा हुआ है और उसकी बागडोर, इस तराजू की चोटी, उसी ज्ञान-शक्ति सम्पन्न मानव के हाथ में है जो अपनी ज्ञान-सत्ता के कारण सृष्टि का सिरमौर है।

सर्वमान्य आचार-संहिता

आचार्यश्री तुलसी से मेरा थोड़ा ही सम्पर्क हुआ है, परन्तु वे जो कुछ करते रहे हैं और अणुव्रत का जो साहित्य प्रकाशित होता रहा है, उसे मैं ध्यान से देखता रहा हूँ। जैन साधुओं की त्याग-वृत्ति पर मेरी सदा से ही बड़ी श्रद्धा रही है। इस प्राचीन संस्कृति वाले देश में त्याग ही सर्वाधिक पूज्य रहा है और जैन साधुओं का त्याग के क्षेत्र में बड़ा ऊँचा स्थान है। फिर आचार्यश्री तुलसी और उनके साथी किसी धर्म के संकुचित दायरे में कैद भी नहीं हैं। मैं आचार्यश्री तुलसी के विचार, प्रतिभा और कार्य-प्रवीणता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। उनका यह अणुव्रत-आन्दोलन किसी पक्ष विशेष का आन्दोलन न होकर समूची मानव-जाति के क्रमिक विकास और उसके सदाचारी जीवन का, इन व्रतों के रूप में एक ऐसा अनुष्ठान है जिसे स्वीकार करने मात्र से भय, विषाद, हिंसा, ईर्ष्या, विषमता जाती रहती है और सुख-शान्ति की स्थापना हो जाती है। मेरा विश्वास है, हिंसा भले ही बर्बरता की चरम सीमा पर पहुँच जाए,

पर उसका भी अन्त अहिंसा ही है और इस दृष्टि से हर काल, हर स्थिति में अणुव्रत की उपयोगिता, उसकी अनिवार्यता निर्विवाद है।

आचार्यश्री तुलसी एक समृद्ध साधु-संघ के नायक हैं, वृहद् तेरापंथ के आचार्य हैं और लाखों लोगों के पूज्य हैं। उनके इस बड़प्पन में जो सबसे बड़ी बात है वह है उनका स्वयं का तथा अपने प्रभावशाली साधु-संघ का एक विशेष कार्यक्रम के साथ जन-कल्याण के निमित्त समर्पण। उनके इस जन-कल्याण का जो स्वरूप है, उसकी जो योजना है, वह अणुव्रत-आन्दोलन में समाहित है। दूसरे शब्दों में, उनके इस आन्दोलन को देश-निर्माण का आन्दोलन कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति और दर्शन के अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम आधारों पर नैतिक व्रतों की एक सर्वमान्य आचार-संहिता की संज्ञा भी इसे दे सकते हैं।

व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था

आचार्यश्री तुलसी प्रथम धर्माचार्य हैं जो अपने वृहद् साधु-संघ के साथ सार्वजनिक हित की भावना लेकर व्यापक क्षेत्र में उतरे हैं। आचार्यश्री साहित्य, दर्शन और शिक्षा के अधिकारी आचार्य हैं। वे स्वयं एक श्रेष्ठ साहित्यकार और दार्शनिक हैं। अपने साधु संघ में उन्होंने निरपेक्ष शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया है तथा संस्कृत, राजस्थानी भाषा की भी वृद्धि में उनका अभिनन्दनीय योग है। उनके संघ में हिन्दी की प्रधानता आचार्यश्री की सूझ-बूझ की परिचायक है। आपकी प्रेरणा से ही साधु-समुदाय सामयिक गति-विधि से दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उतरा है। इसी के अनन्तर आप देश की गिरती हुई नैतिक स्थिति को ऊर्ध्व सचरण देने में प्रेरित हुए और उसी का शुभ परिणाम यह सर्वविदित अणुव्रत-आन्दोलन बना। आचार्यश्री तुलसी एक व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था-रूप हैं।

अन्त में मैं आचार्यश्री तुलसी को, उनके इस वास्तविक साधु-रूप को तथा उनके द्वारा हो रहे जन-कल्याण के कार्य को, अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

•

एक अमिट स्मृति

श्री शिवाजी नरहरि भावे

महामहिम आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्ष पहले पहली बार ही धूलिया पधारे थे। इसके पहले *यहाँ उनका परिचय नहीं था। लेकिन धूलिया पधारने* पर उनका सहज ही परिचय प्राप्त हुआ। वे सायकाल से थोड़े ही पहले अपने कुछ साथी साधुओं के साथ यहाँ के गांधी तत्त्वज्ञान मन्दिर मे पधारे। हमारे आमंत्रण पर उन्होने निःसंकोच स्वीकृति दी थी। यहाँ का शान्त और पवित्र निवास-स्थान देखकर उनको काफी संतोष हुआ। सायंकालीन प्रार्थना के बाद कुछ वार्तालाप करेंगे, ऐसा उन्होने आश्वासन दिया था। उस मुताबिक प्रार्थना हो चुकी थी। सारी सृष्टि चन्द्रमा की राह देख रही थी। सब ओर शान्ति और समुत्सुकता छाई हुई थी। तत्त्वज्ञान मन्दिर के बरामदे मे वार्तालाप आरम्भ हुआ। सतां सद्‌भिः सग. कथमपि हि पुण्येन भवति, भवभूति की इस उक्ति का अनुभव हो रहा था।

वार्तालाप का प्रमुख विषय तत्त्वज्ञान और अहिंसा ही था। बीच में एक व्यक्ति ने कहा—अहिंसा में निष्ठा रखने वाले भी कभी-कभी अनजाने विरोध के झमेले में पड जाते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"विरोध को तो हम विनोद समझकर उसमे आनन्द मानते हैं।" इस सिलसिले में उन्होने एक पद्य भी गाकर बताया। श्रोताओं पर इसका बहुत असर हुआ।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनां।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

सचमुच भर्तृहरि के इस कटु अनुभव को आचार्यश्री तुलसी ने कितना मधुर कर दिया। सब लोग अवाक् होकर वार्तालाप सुनते रहे।

आचार्यश्री विशिष्ट पथ के संचालक हैं, एक बड़े आन्दोलन के प्रवर्तक हैं, जैन शासन के प्रकाण्ड पंडित हैं, किन्तु इन सब बड़ी-बड़ी उपाधियों का इनके

भाषण में आभास भी किसी को प्रतीत नहीं होता था। इतनी सरलता ! इतना स्नेह ! इतनी शान्ति ! ज्ञान व साधना के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है ?

आचार्यश्री तुलसी की हमारे लिये यही अमिट स्मृति है।

एक पंथ के आचार्य नहीं

श्री श्रीमन्नारायण
सदस्य, योजना आयोग

निःसन्देह करोडो मानव आज प्राथमिक और मामूली जरूरतें भी पूरा नही कर पाते हैं, अत उनका जीवन-स्तर ऊपर उठाना परम आवश्यक लगता है। प्रत्येक स्वतन्त्र और लोकतन्त्री देश के नागरिक को कम-से-कम जीवनोपयोगी वस्तु तो अवश्य ही मिल जानी चाहिए, परन्तु हमे अच्छी तरह समझ लेना होगा कि केवल इन भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर देने से ही शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील समाज की स्थापना नही हो सकेगी। जब तक लोगों के दिलों-दिमागों मे सच्चा परिवर्तन नही होगा, तब तक मनुष्य-जाति को भौतिक समृद्धि भी नसीब नहीं होगी।

सादगी और दरिद्रता

आखिर मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नहीं जीता और न भौतिक सुख-सामग्री से मनुष्य को सच्चा मानसिक और आत्मिक सुख ही मिल सकता है। हमारे देश की सस्कृति मे तो अनादि काल से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इस देश मे तो मनुष्य के धन-वैभव को देखकर नही, उसके सेवा-भाव और त्याग को देखकर आदर होता है। यह सच है कि दरिद्रता अच्छी चीज नहीं है और आधुनिक समाज को, एक निश्चित मात्रा मे कम-से-कम भौतिक सुख-सुविधा तो सबको मिले, ऐसा प्रबन्ध करना होना है। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नहीं है और न जरूरतें बढ़ा देना प्रगति की निशानी। हमे भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक सन्तुलन उपस्थित करना होगा। यह ध्यान प्रतिदिन रखना होगा कि आर्थिक संयोजन में लक्ष्यों को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए

भी अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करने का काम भी करते रहना है, जहाँ हम ऐसे मार्ग पर चल सकेंगे, जो हमारी संस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के अनुकूल होगा। जब तक देश के निवासी—स्त्री और पुरुष—नेक और ईमानदार नहीं होंगे, हम राष्ट्र की नींव को मजबूत नहीं कर सकेंगे। राष्ट्र की असली सम्पत्ति बड़ी-बड़ी योजनाएँ, कारखाने या विशाल इमारतें नहीं हैं। राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति और धन का स्रोत तो वास्तव में समझदार और नैतिक नागरिक हैं, जिन्हें अपने कर्तव्यों और अधिकारों का पूरा-पूरा भान होता है। भारतीय लोक-राज्य का चिह्न भी धर्मचक्र है, जिसका अर्थ है—सच्ची प्रगति धर्म के अर्थात् कर्तव्य और सन्मार्ग के अनुसरण में ही है। यदि इस चिह्न को हम भुला देंगे तो हमारा कभी कल्याण नहीं हो सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन को मैं नैतिक संयोजन का ही एक विशिष्ट उपक्रम मानता हूँ। यह आन्दोलन व्यक्ति की सुप्त नैतिक भावना को उद्बुद्ध करता है तथा विवेकपूर्वक जीवन का महत्त्व प्रत्येक व्यक्ति को समझाता है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

भारत के मुझ जैसे बहुत-से व्यक्ति आज आचार्यश्री तुलसी को केवल एक पंथ के आचार्य नहीं मानते हैं। हम तो उन्हें देश के महान् व्यक्तियों में से एक प्रभावशाली व्यक्ति मानते हैं, जिन्होंने भारत में नीति और सद्व्यवहार का झंडा ऊँचा उठाया है। अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा देश के हजारों और लाखों व्यक्तियों को अपना नैतिक स्तर ऊँचा करने का अवसर मिला है और भविष्य में भी मिलता रहेगा। यह आन्दोलन बच्चे, बूढ़े, नौजवान, स्त्री, पुरुष, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी वर्ग आदि सबके लिए खुला है। इसके पीछे एक ही शक्ति है और वह है—नैतिक शक्ति। यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का आन्दोलन सरकारी शक्ति से संचालित नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष में यह परम्परा ही रही है कि जनता की नैतिकता ऋषि, मुनि व आचार्यों द्वारा ही संचालित हुई है।

मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्षों तक इस देश की जनता को नैतिकता की ओर ले जाने में सफल रहेंगे और उनके जीवन से हजारों व लाखों व्यक्तियों को स्थायी लाभ मिलेगा।

❸

भारतीय संस्कृति के संरक्षक

डा० मोतीलाल दास, एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०
संस्थापकमंत्री, भारतीय संस्कृति परिषद्, कलकत्ता

भारतीय संस्कृति एक शाश्वत जीवन शक्ति है। अत्यन्त प्राचीन काल से आधुनिक युग तक महान् आत्माओं के जीवन और उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा की लहरें प्रवाहित हुई हैं। इन संतों ने अपनी गतिशील आध्यात्मिकता, गम्भीर अनुभवों और अपने सेवा और त्यागमय जीवन के द्वारा हमारी सभ्यता और संस्कृति के सारभूत तत्त्व को जीवित रखा है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही संत हैं। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं ऐसे विशिष्ट महापुरुष के निकट सम्पर्क में आ सका। मैं अणुव्रत समिति, कलकत्ता के पदाधिकारियों का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस महान् धर्माचार्य से मिलने का अवसर दिया।

आचार्यश्री तुलसी अवस्था में मुझसे छोटे हैं। उनका जन्म अक्तूबर, १६१४ में हुआ और मैंने उन्नीसवीं शताब्दी की अस्तगत किरणों को देखा है। उन्होंने ग्यारह वर्ष की सुकुमार वय में जैन धर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय के कठिन साधुत्व की दीक्षा ली। अपने दुर्लभ गुणों और असाधारण प्रतिभा के बल पर बाईस वर्ष की अवस्था में ही वे तेरापंथ सम्प्रदाय के नवें आचार्य बन गए। तब से आचार्य पद पर उनको पच्चीस वर्ष हो गए हैं और वे अपने सम्प्रदाय को नैतिक श्रेष्ठता और आध्यात्मिक उत्थान के नये-नये मार्गों पर अग्रसर कर रहे हैं।

मंगलमयी आकृति

दुनिया आज धृणोन्माद की शिकार हो रही है। लोभ और लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुर्निवार बोलबाला है। भ्रष्टाचार और पतन के युग में महान् आचार्य का शान्त चेहरा देखकर कितनी प्रसन्नता होती है। उनके शान्त चेहरे की ओर एक दृष्टि निक्षेप से ही दर्शक को शान्ति और आह्लाद प्राप्त होता

है। संयम-पालन के कारण वह कठोर अथवा रूक्ष नहीं हुए हैं। उनकी आकृति मंगलमयी है, जो प्रथम दर्शन पर ही अपना प्रभाव डालती है। उनका चौड़ा ललाट और ज्योतिर्मय नेत्र आशा और शान्ति का आश्वासन देते हैं और उनका सन्तुलित व्यवहार अपने आलोक से मुग्ध कर देता है।

उनमें और भगवान् बुद्ध में समानता प्रतीत होती है। गौतम बुद्ध महानतम हिन्दू थे, जिन्होंने असीम मानवता-प्रेम से प्रेरित होकर अपने अनुयायियों को बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय धर्म का उपदेश देने के लिए भेजा। उन महान् धर्म-प्रचारक की तरह ही आचार्यश्री तुलसी ने पद-यात्राओं का आयोजन किया है। इस नवीन प्रयोग में कुछ असाधारण सुन्दरता है। तेरापंथ के साधु अपनी पद-यात्राओं में जहाँ कहीं भी जाते हैं, नई भावना और नया वातावरण उत्पन्न कर देते हैं।

धर्म का ठोस आधार

अपनी पद-यात्रा के मध्य आचार्यश्री तुलसी बंगाल आए और कुछ दिन कलकत्ता में ठहरे। उस समय मैंने उनसे साक्षात्कार किया और बातचीत की। उन्होंने मुझसे अणुव्रतों की प्रतिज्ञा लेने को कहा। मुझे लज्जापूर्वक कहना पड़ता है कि मैंने अपने भीतर प्रतिज्ञाएँ लेने जितनी शक्ति अनुभव नहीं की और झिझकपूर्वक वैसा करने से इन्कार कर दिया। किन्तु वे इससे तनिक भी नाराज नहीं हुए। तटस्थ भाव से, जो उनकी विशेषता है और क्षमाशील स्वभाव से, जो अपूर्व है, उन्होंने मुझसे तौलने, विचार करने और फिर निर्णय करने को कहा। आचार्यश्री तुलसी की शिक्षाएँ बुद्ध की शिक्षाओं की भाँति नैतिक आदर्शवाद पर आधारित हैं। उनके अनुसार नैतिक श्रेष्ठता ही धर्म का निश्चित और ठोस आधार है। जब कि भौतिकवाद का चारों ओर बोल-बाला है, उन्होंने मानवता के नैतिक उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन चलाया है।

दूसरे अनेक व्यक्तियों के साथ जो ज्ञान और अनुभव में विद्वत्ता और आध्यात्मिक भावना में मुझ से आगे हैं, मैं पतनोन्मुख भारत के नैतिक उत्थान के लिए आचार्यश्री तुलसी ने जो काम हाथ में लिया है और जो आशातीत सफलताएँ प्राप्त की हैं, उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करता हूँ।

अणुव्रत-आन्दोलन एक महान् प्रयास है और उसकी कल्पना भी उतनी ही

महान् है। एक श्रेष्ठ सत्य-धर्मी संन्यासी के द्वारा उसका संचालन हो रहा है। अपने सम्प्रदाय को संगठित करने के बाद इन्होंने १ मार्च, १९४९ को देशव्यापी नैतिक पतन के विरुद्ध अपना आन्दोलन प्रारम्भ किया।

युगपुरुष व वीर नेता

हम सदियों की दासता के बाद सन् १९४७ में स्वतन्त्र हुए, किन्तु हमने अपनी स्वतन्त्रता अनुशासन के कठिन मार्ग से प्राप्ति नहीं की। इसलिए अधिकार और धन-लिप्सा ने समाज-संगठन को विकृत कर दिया। जीवन के हर क्षेत्र में अकुशलता का बोल-बाला है। नीतिहीनता ने हमारी शक्ति को क्षीण कर दिया है और इसलिए जब तक हम नैतिक स्वास्थ्य पुन. प्राप्त नहीं कर लेते, हम राष्ट्रों के समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते। मानव पतन के सर्वव्यापी अन्धकार के मध्य नैतिक उत्थान की मुखर पुकार आश्चर्यकारक ताजगी लिये हुए आई है और नगे पाँव व श्वेत वस्त्रधारी यह साधु अचानक ही युगपुरुष व वीर नेता बन गया है। ऐसे ही पुरुष की आज राष्ट्र को तात्कालिक आवश्यकता है।

शुक्ल यजुर्वेद में एक स्फूर्तिदायक मन्त्र है, जिसमें ऋषि अपनी सच्ची आस्था प्रकट करते हैं—"ऐ उज्ज्वल ज्ञान के आलोक, शक्ति की अग्नि-शिखा, मुझे सत्पथ पर अग्रसर कर। मैं नये पवित्र जीवन को अंगीकार करूँगा, अमर आत्माओं के पद-चिह्नों पर चलता हुआ सत्य और साहस का जीवन व्यतीत करूँगा"

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति कर्म के माध्यम से होती है, ऐसा कर्म जो कष्ट-साध्य और स्थायी हो और जो आत्मा की मुक्ति और विजय की घोषणा करने वाला हो। मनुष्य को नि स्वार्थ भाव से फल की आकांक्षा का त्याग करके कर्म करना चाहिए। *यही सच्ची चारित्रिक पूर्णता है।* चरित्र और नैतिक श्रेष्ठता के बिना मनुष्य पशु बन जाता है और सत्यं, शिवं व सुन्दरं का अनुसरण कर वह प्रेम के मार्ग पर ऊँचा और अधिक ऊँचा उठता जाता है और अन्त में अमर आत्माओं के राज-सिंहासन के पद पर आसीन होता है।

नैतिक मूल्यों की स्थापना

आचार्यश्री तुलसी ने भारत माता की सच्ची मुक्ति के लिए अणुव्रत-

आन्दोलन का सूत्रपात करके बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से काम चलने वाला नहीं है। यहां तक कि शिक्षा-सुधारों, आर्थिक सम्पन्नताओं और सामाजिक उत्थान से भी अधिक सहयोग नहीं मिलेगा। सर्वोपरि आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों और सारे समाज के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हो। नैतिक पुनरुत्थान का सर्वोत्तम मार्ग यह नहीं है कि लोगों के सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन होने की प्रतीक्षा की जाए, बल्कि व्यक्ति के सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति सज्जन बन जाए तो सामाजिक उत्थान के पृथक् प्रयास के बिना ही समाज धर्म-परायण बन जाएगा।

जब कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा लेता है तो वह अपने को नैतिक रूप में ऊंचा उठाने का प्रयास करता है। वह अपने द्वारा अंगीकृत कर्तव्य के प्रति धार्मिक भावना से प्रेरित होता है और इसलिए वह उस साधारण व्यक्ति की अपेक्षा जिसे कानून अथवा सामाजिक अप्रतिष्ठा के भय के अलावा और किसी बात से प्रेरणा नहीं मिलती, आज की दुनिया में अधिक सफल होता है।

प्रत्येक व्यक्ति में श्रेष्ठता और महानता का स्वाभाविक गुण होता है चाहे वह समाज के किसी भी वर्ग से सम्बन्धित क्यों न हो। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न कर सकें और उसे अपने इन स्वाभाविक गुणों का ज्ञान करा सकें, तो चमत्कारी परिणाम आ सकते हैं। यदि आत्म-ज्ञान व आत्म-निष्ठा हो तो व्यक्ति के लिए सत्पथ पर चलना अधिक सरल होता है। ऐसी स्थिति में तब वह सदाचार का मार्ग निषेधक न रहकर विधायक वास्तविकता का रूप ले लेता है।

प्रतिज्ञा-ग्रहण का परिणाम

अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सुविदित सिद्धान्तों पर आधारित है, किन्तु वह उनमें नई सुगन्ध भरता है। कुछ लोग प्रतिज्ञाओं और उपदेशों को केवल दिखावा और बेकार की चीजें समझते हैं, किन्तु असल में उनमें प्रेरक शक्ति भरी हुई है। उनसे नि:स्वार्थ सेवा की ज्योति प्रकट होती है जो मानव-मन में रहे पशु-बल को जला देती है और उसकी राख से नया मानव जन्म लेता है, अमर और दैवी प्राणी।

कुछ लोग यह तर्क कर सकते हैं कि ये तो युगों पुराने मौलिक सिद्धान्त हैं और यदि आचार्यश्री तुलसी इनके कल्याणकारी परिणामों का प्रचार करते हैं तो इसमें कोई नवीनता नहीं है। यह तर्क ठीक नहीं है। यह साहसपूर्वक कहना होगा कि आचार्यश्री तुलसी ने अपने शक्तिशाली दृढ़ व्यक्तित्व द्वारा उनमे ते उत्पन्न किया है।

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन को अपने करीब ७०० निस्वार्थ साधु साध्वियों के दल की सहायता से चला रहे हैं। उन्होंने आचार्यश्री के कड़े अनु शासन में रहकर और कठोर सयम का जीवन बिताकर आत्म-जय प्राप्त व है। उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी अच्छा अध्ययन किया है। इस अतिरिक्त ये साधु-साध्वी दृढ़ सत्त्ववान् हैं और उन्होंने अपने भीतर सहिष्णु और सहनशीलता की अत्यधिक भावना का विकास किया है, जिसका ह भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यों मे दर्शन होता है।

आध्यात्मिक अभियान

यह आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं का दल जब गांवों और नगरों में निकल है तो आश्चर्यजनक उत्साह उत्पन्न हो जाता है और नैतिक गुणों को सच्च पर श्रद्धा हो जाती है। जब हम नगे पाँव साधुओं के दल को अपना स्व सामान अपने कधों पर लिए देश के विभिन्न भागों से गुजरते हुए देखते हैं यह केवल रोमाचक अनुभव ही नहीं होता, बल्कि वस्तुतः एक परिणामदा आध्यात्मिक अभियान प्रतीत होता है।

साधु-साध्वियां श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। वे किसी वाहन का उपयं नहीं करते। उनका वाहन तो उनके अपने दो पाँव होते हैं। वे साधारण किसी की सहायता नहीं लेते, उनका कोई निश्चित निवास-गृह नहीं होता प न उनके पास एक पैसा ही होता है। जैसाकि प्राचीन भारत के साधु-सन्तों परम्परा है, वे भिक्षा भी मांग कर लेते हैं। भ्रमर की तरह वे इतना ही प्र करते हैं, जिससे दाता पर भार न पड़े।

आचार्यश्री तुलसी का ध्येय केवल लोगों को अपने जीवन का सच्चा ल प्राप्त करने में सहयोग देने का एक निःस्वार्थ प्रयास है। पूर्णता प्राप्त करने लक्ष्य इसी धरती पर सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए हम

वे छिछली सी बातों में उलझना [illegible] चाहिए। [illegible] करके ही वो [illegible] प्रयोग बहुत कठिन है। जैसे एक व्यक्ति, फिर दूसरे व्यक्ति, इसी प्र[illegible] वैदिक पुनरुत्थान की दिशा सार्थक होती है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक जीवन-विधि

आचार्यश्री की जीवन विधि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की है। वैदिक प्रकार का उपयोग सभी को मान्य है। वह जाति और [illegible] भिन्न और सम्प्रदाय, देश और वातावरण के भेद से परे है। उसका [illegible] [illegible] गुणों से है जिनकी सभी धर्मों के धार्मिक ग्रन्थों में महिमा बताई है। आचार्यश्री ने चरित्र-निर्माण-कार्य को नई दृष्टि प्रदान की है और [illegible] से बहुत बड़ा [illegible] चरित्र निर्माण की कला को एक रचनात्मक रूप प्रदान किया है।

भौतिकवादिक कुण्ठाओं और [illegible] के इस युग में अणुव्रत-आन्दोलन ने जीवन को चरित्र कला को पुनर्जीवित किया है। पशु की भाँति जीवन बिताना, आहार, निद्रा और मैथुन में ही सम्पूर्ण मानना कोई जीवन नहीं है। वही मनुष्य जीवित है जो धर्म के मार्ग का अनुसरण करता है। यह धर्म ही है जो मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को दैवी गुणों में बदल सकता है; अतः हम सबको इस आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करना चाहिए। उससे धार्मिक सौमनस्य उत्पन्न होगा, फूट दूर होगी और सद्भावना और प्रेम का प्रसार होगा।

समन्वयमूलक आदर्शवाद

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन से भी महान् हैं। निस्सन्देह यह उनकी महान् देन है, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। उनकी प्रवृत्तियाँ विविध हैं और उनकी दृष्टि सर्वव्यापी है। उनका समन्वयमूलक आदर्शवाद उनकी सभी प्रवृत्तियों में नये प्राण फूंक देता है। ऐसी प्रफुल्लता ला देता है जो बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती। अगर दुर्गुणों का लोप हो जाता है तो संस्कृति का आगमन अवश्यम्भावी है। जब दुर्गुण, बुराई और पतन नामशेष हो जायें तो संस्कृति का अपने आप विकास होता है।

वे प्राचीन भारत के अधिकांश धर्माचार्यों से सहमत हैं कि इच्छा ही सारे दुखों की जड़ है। वे उनकी इस राय से भी सहमत हैं कि जब इच्छा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, तभी हम सर्वोच्च शान्ति और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं।

कलकत्ता के संस्कृत कालेज में एक साध्वी ने संस्कृत में भाषण दिया था और हमें पता चला कि आचार्यश्री साधु-साध्वियों को शिक्षा देने में अपना काफी समय खर्च करते हैं। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और गम्भीर चिन्तक हैं। वे अपने विचारों में अग्रगामी उत्साह और असीम श्रद्धा के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपना नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश दे रहे हैं।

बहुत काम हुआ है और अभी बहुत होना शेष है। इस कठिन कार्य में हम प्रत्येक भारत प्रेमी से हृदय से सहभागी बनने की प्रार्थना करते हैं। उत्थान के ऐसे निरन्तर प्रयास से ही कवियों और दार्शनिकों की महान् भारत की वह कल्पना साकार हो सकेगी। भारतीय संस्कृति के इस संरक्षक का सभी अभिनन्दन करते हैं। राजस्थान का यह सपूत दीर्घजीवी हो और अपने पावन ध्येय को सिद्ध करें।

सस्कृति और युग

नये ससार मे भारत, अपने स्वभाव और अपनी संस्कृति के अनुसार, ाप्ट स्थान प्राप्त करने के लिए यत्न कर रहा है। अब भारत ने राज-वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया है। परन्तु स्वातन्त्र्य एक उपाय-मात्र है। ारा एक बड़े लक्ष्य को सिद्ध करना है तथा इस प्राचीन देश को नवीन है। यह एक बहुत बडा काम है और इसमे हर व्यक्ति का सहयोग है। इस देश की पुरानी सभ्यता और सस्कृति को इस नये युग के बनाना है। जीवन के हरएक विभाग मे आमूल परिवर्तन लाना है। र प्रारम्भ हो गया है। केन्द्रीय सरकार की जो पचवर्षीय योजनाएँ चल उनका मुख्य उद्देश्य यही है। उनमे यद्यपि आर्थिक सुधार पर अधिक या जा रहा है, फिर भी अधिकारियो को इस बात का पूरा ज्ञान है कि ार्थिक उन्नति से, केवल दारिद्र्य-निवारण से, देश की उन्नति नहीं हो है। साथ-साथ अनेक सामाजिक सुधार भी आवश्यक हैं। शिक्षा-क्षेत्र में र बहुत पिछडा हुआ है। इस युग मे यह लज्जा और परिभव की बात ापि इस देश में अच्छे-अच्छे विद्वान् भी मिलते हैं। परन्तु इस युग में ' की कसौटी ही दूसरी है। केवल बीस प्रतिशत आदमी ही पेट-भर खा ौर सब भूखे रह जायें तो यह देश की समृद्धि नही कही जा सकती है। अच्छे विद्वान् भले ही मिलते हो, परन्तु अधिकाश जनता यदि निरक्षर है ा उन्नति की नहीं समभी जा सकती है। इतनी विद्वत्ता तो व्यर्थ गई, ः उसका साधारण जनता पर कोई असर ही नहीं हुआ। इस युग में रण जनता की उन्नति ही उन्नति समभी जाती है। इस दृष्टि से अभी ' मे बहुत काम बाकी है।

ाम इतना बडा और सर्वतोमुख है कि सारी जनता यदि बड़ी तत्परता एकता के साथ निरन्तर प्रयत्न करे, तब कार्य-सिद्धि की सम्भावना है, नहीं ालकुल नही है। कुछ इने-गिने व्यक्तियो के इस काम मे भाग लेने से लक्ष्य नही हो सकता है। सारी जनता का सहयोग अपेक्षित है; बड़ा ऐकमत्य ौर उत्साह हो। चीन के सम्बन्ध में भारत मे तरह-तरह की भावनाएँ हैं। की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के बारे मे भी यहाँ काफी मतभेद हैं। भारतीय चीन हो आये हैं और उन्होंने अपने-अपने अनुभवों का वर्णन भी

किया है। इन यात्राओं को करने के बाद और लौटे हुए कुछ व्यक्तियों से वार्तालाप करने के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीन में उत्साह है और एकता है। चीन की जनता अपने देश की उन्नति के लिए बड़े उत्साह के साथ सर्वस्व प्रदान कर रही है। इस बात की भारत में अत्यन्त आवश्यकता है। क्या यहाँ अपेक्षित उत्साह और एकता है? कुछ अंश में तो होता है। कुछ अंश में एकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि सारे भारत में एक ही राजनैतिक दल शासन कर रहा है। भारत ने संसार का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र स्थापित किया है और वह चल भी रहा है। देश की उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाई जा रही हैं और कार्यान्वित की जा रही हैं। इस काम में लाखों की संख्या में सरकारी कर्मचारी लगे हैं, असंख्य साधारण व्यक्ति भी संलग्न हैं। यहाँ स्वातन्त्र्य के पहले न केवल अंग्रेजी राज था, अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतें भी थीं, राजा-महाराजे और नवाब अपने-अपने राज्य में स्वेच्छानुसार राज करते थे; वहाँ तब इन रियासतों में प्रजा का कोई भी अधिकार नहीं था। इस समय तो भारत का कोई भी भाग नहीं, जहाँ प्रजातन्त्र चल नहीं रहा हो और जहाँ प्रजा का अधिकार न हो। इस दृष्टि से समस्त भारत एक ही सूत्र में बाँधा गया है। यह एक प्रकार की एकता है। यह अवश्य उन्नति का लक्षण है। इसके आधार पर बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

चरित्र-भ्रंश

कुछ सन्तोषजनक बातों के होते हुए भी स्वातन्त्र्य के बाद देश में असन्तोष फैल रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के सफल होने पर भी देश में शिकायतें सुनने में आ रही हैं। ये दुःख की आवाजें साधारण जनता की दरिद्रता और पिछड़ी हुई स्थिति के सम्बन्ध में नहीं हैं। चारों ओर से एक ही शब्द सुनने में आता है और वह है 'चरित्र-भ्रंश'। लोग अपने साधारण वार्तालाप में, नेतृ-वर्ग अपने भाषणों में, यही घोषित करते हैं कि देश के सामने सबसे बड़ी समस्या जनता के चरित्र-भ्रंश की है। धर्म और मानवता का पूरा तिरस्कार करके लोग अपना स्वार्थ साधने में तत्पर हैं। जीवन के हरएक क्षेत्र में इस बात का अनुभव किया जा रहा है। जनता का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है जो इस चरित्र-भ्रंश से बचा हो। किसी वर्ग, दल, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ण को दूसरों पर इस विषय में

ोग करने का अधिकार नहीं है। जब तक गांधीजी हमारे बीच थे, तब हम लोगों के एक बड़े पथ-प्रदर्शक थे। वे हरएक व्यक्ति को, हरएक दल हरएक वर्ग को, शासन के अधिकारियों को, समस्त देश को चरित्र की से देखा करते थे। उनकी यही एक कसौटी थी। राजनीति के क्षेत्र मे और चरित्र की रक्षा करते हुए काम करना असम्भव समझा जाता था। ा सारा जीवन इस बात का प्रमाण है कि यह विचार अत्यन्त भ्रममूलक प्रतिदिन अपनी प्रार्थना-सभाओं मे जो छोटे छोटे दस-दस मिनट के भाषण करते थे, उनका मुख्य उद्देश्य जनता का चरित्र-निर्माण ही था। उनके वे ए बड़े मार्मिक थे, विचारशील लोग उनकी प्रतीक्षा करते थे, समाचार- ों मे सबसे पहले उन्ही को पढ़ा करते थे और दिन मे अपने मित्रों के साथ ों की चर्चा करते थे। इन भाषणों का प्रभाव सरकारी कर्मचारियों पर, ासक और विद्यार्थियों पर, व्यापारियों पर, गृहस्थों पर, धर्मोपदेशकों पर, ी जनता पर पड़ता था। गांधीजी के स्वर्गवास होने के बाद उनका वह ान अब भी रिक्त है। कोई भी उसको ग्रहण करने मे अपने को समर्थ न रहा है।

ं निरपेक्षता बनाम धर्म-विमुखता

देश के पुनर्निर्माण मे सबसे बड़ा काम केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों ारा ही लिया जा रहा है। यह स्वाभाविक भी है। उनके पास शक्ति भी ा भी है। परन्तु इस काम में शासनों की एक विशेष दृष्टि होती है। उन ष्ट अधिकार प्राप्त होती है। हमारे शासन को धर्म-निरपेक्ष शासन । ा कहा गया है। वास्तव मे तो हमारा शासन धर्म-निरपेक्ष शासन नहीं र्म विशेष से निरपेक्ष भले ही हो, परन्तु सर्वथा धर्म से विमुख नहीं है। कोई ासन सामान्य धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु वस्तुस्थिति यह है ासन की बड़ी-बड़ी योजनाएँ धर्म की दृष्टि से नहीं बनाई जा रही है। हम ासन तो अवश्य चाहता है कि जनता का चरित्र ऊँचा हो। हमारे शासन ुत दुःख है कि देश म स्वातन्त्र्य के बाद चरित्र गिर रहा है। परन्तु उ ा विचार यह है कि देश मे आर्थिक उन्नति के साथ-साथ चरित्र की उन् ्वय ही हो जाएगी। चरित्र-उन्नति के प्रत्यक्ष प्रयत्न करना शासन का।

किया है। इन वर्णनों को पढ़ने के बाद और लौटे हुए कुछ व्यक्तियों से वार्तालाप करने के अनन्तर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीन में उत्साह है और एकता है। चीन की जनता अपने देश की उन्नति के लिए बड़े उत्साह के साथ अथक प्रयत्न कर रही है। इस बात की भारत में अत्यन्त आवश्यकता है। क्या यहाँ अपेक्षित उत्साह और एकता है? कुछ अंश में तो दोनों हैं। कुछ अंश में एकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि सारे भारत में एक ही राजनैतिक दल राज्य कर रहा है। भारत ने संसार का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र स्थापित किया है और वह चल भी रहा है। देश की उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाई जा रही हैं और कार्यान्वित की जा रही हैं। इस काम में लाखों की संख्या में सरकारी कर्मचारी लगे हैं, अलावा साधारण व्यक्ति भी व्यापृत हैं। जहाँ स्वातन्त्र्य के पहले न केवल अंग्रेजी राज था, अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतें भी थीं, राजा-महाराजे और नवाब अपने-अपने राज्य में स्वेच्छानुसार राज करते थे; वहाँ तब इन रियासतों में प्रजा का कोई भी अधिकार नहीं था। इस समय तो भारत का कोई भी अंश नहीं, जहाँ प्रजातन्त्र चल नहीं रहा हो और जहाँ प्रजा का अधिकार न हो। इस दृष्टि से समस्त भारत एक ही सूत्र में बाँधा गया है। यह एक प्रकार की एकता है। यह अवश्य उन्नति का लक्षण है। इसके आधार पर बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

चरित्र-भ्रंश

कुछ सन्तोषजनक बातों के होते हुए भी स्वातन्त्र्य के बाद देश में असन्तोष फैल रहा है। पचवर्षीय योजनाओं के सफल होने पर भी देश में शिकायतें सुनने में आ रही हैं। ये दुःख की आवाजें साधारण जनता की दरिद्रता और पिछड़ी हुई स्थिति के सम्बन्ध में नहीं हैं। चारों ओर से एक ही शब्द सुनने में आता है और वह है 'चरित्र-भ्रश'। लोग अपने साधारण वार्तालाप में, नेतृ-वर्ग अपने भाषणों में, यही घोषित करते हैं कि देश के सामने सबसे बड़ी समस्या जनता के चरित्र-भ्रश की है। धर्म और मानवता का पूरा तिरस्कार करके लोग अपना स्वार्थ साधने में तत्पर हैं। जीवन के हरएक क्षेत्र में इस बात का अनुभव किया जा रहा है। जनता का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है जो इस चरित्र-भ्रश से बचा हो। किसी वर्ग, दल, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ण को दूसरों पर इस विषय में

अभियोग करने का अधिकार नहीं है। जब तक गांधीजी हमारे बीच थे, तब तक हम लोगों के एक बड़े पथ-प्रदर्शक थे। वे हरएक व्यक्ति को, हरएक दल को, हरएक वर्ग को, शासन के अधिकारियों को, समस्त देश को चरित्र की दृष्टि से देखा करते थे। *उनकी वही एक कसौटी थी।* राजनीति के क्षेत्र में धर्म और चरित्र की रक्षा करते हुए काम करना असम्भव समझा जाता था। उनका सारा जीवन इस बात का प्रमाण है कि यह विचार अत्यन्त भ्रममूलक है। प्रतिदिन अपनी प्रार्थना-सभाओं में जो छोटे छोटे दस-दस मिनट के भाषण दिया करते थे, उनका मुख्य उद्देश्य जनता का चरित्र-निर्माण ही था। उनके ये भाषण बड़े मार्मिक थे, विचारशील लोग उनकी प्रतीक्षा करते थे, समाचार-पत्रों में सबसे पहले उन्हीं को पढ़ा करते थे और दिन में अपने मित्रों के साथ उन्हीं की चर्चा करते थे। इन भाषणों का प्रभाव सरकारी कर्मचारियों पर, अध्यापक और विद्यार्थियों पर, व्यापारियों पर, गृहस्थों पर, धर्मोपदेशकों पर, सारी जनता पर पड़ता था। गांधीजी के स्वर्गवास होने के बाद उनका वह स्थान अब भी रिक्त है। कोई भी उसको ग्रहण करने में अपने को समर्थ नहीं पा रहा है।

धर्म निरपेक्षता बनाम धर्म-विमुखता

देश के पुनर्निर्माण में सबसे बड़ा काम केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों के द्वारा ही किया जा रहा है। यह स्वाभाविक भी है। उनके पास शक्ति भी है, धन भी है। परन्तु इस काम में शासनों की एक विशेष दृष्टि होती है। उनकी दृष्टि अधिकतर आर्थिक होती है। हमारे शासन को धर्म-निरपेक्ष शासन होने का बड़ा गर्व है। वास्तव में तो हमारा शासन धर्म-निरपेक्ष शासन नहीं है। धर्म विशेष से निरपेक्ष भले ही हो, परन्तु सर्वथा धर्म से विमुख नहीं है। कोई भी शासन सामान्य धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शासन की बड़ी-बड़ी योजनाएँ धर्म की दृष्टि से नहीं बनाई जा रही हैं। हमारा शासन तो अवश्य चाहता है कि जनता का चरित्र ऊँचा हो। हमारे शासन को बहुत दुःख है कि देश में स्वातन्त्र्य के बाद चरित्र गिर रहा है। परन्तु शासन का विचार यह है कि देश में आर्थिक उन्नति के साथ-साथ चरित्र की उन्नति स्वयं ही हो जाएगी। चरित्र-उन्नति के साक्षात् प्रयत्न करना शासन का काम

नहीं है, वह तो जनता का काम है।

प्राचीन भारत मे परिस्थितियाँ भिन्न थीं। जनता मे धर्म-बुद्धि अधिक थी, परलोक से डर था, धर्माचार्य के नेतृत्व में श्रद्धा थी। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के अनेक धर्माचार्य होते थे और जनता पर बड़ा प्रभाव था। शासन और धर्माचार्यों का परस्पर सहयोग था। दोनों मिलकर जनता को चरित्र-भ्रंश से बचाते थे। वह परिस्थिति अब नही है। प्रश्न यह है—अब क्या हो?

धर्माचार्यों के लिए स्वर्णिम अवसर

परिस्थिति तो अवश्य बहुत बदल गई है; परन्तु स्मरण रहे कि हम लोग अपने-अपने धर्म को सनातन मानते हैं। हम लोग मानते हैं कि परिस्थिति के भिन्न होते हुए भी मानव-जीवन मे कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो सनातन हैं, जिनको स्वीकार किये बिना मनुष्य-जीवन सफल नही हो सकता है, मनुष्य सुख प्राप्त नही कर सकता है। भारत मे अनेक धर्मों और सम्प्रदायों का जन्म हुआ। हर एक धर्म और सम्प्रदाय अपने तत्त्वो को सनातन मानता है और उनको हर एक परिस्थिति मे उपयुक्त मानता है इन तत्त्वो का रहस्य हमारे धर्माचार्य ही जानते हैं, वे ही साधारण जनता मे उनका प्रचार कर सकते हैं। भारत में जो-जो धर्म और सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, वे सब भारत मे आज भी किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान है। उनकी परम्पराए भी अधिकाश सुरक्षित हैं। इन धर्मों के रहस्य जानने वाले धर्माचार्य और साधु-सन्यासी हमारे ही बीच हैं और जगह-जगह काम भी कर रहे हैं। हाँ, अब शासन से उनका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना प्राचीनकाल मे था। तथापि इन धर्मों का रहस्य जानने वाले जनता ही के बीच रहते हैं और जनता के अन्तर्गत है। क्या हमको यह आशा करने का अधिकार नहीं है कि इस भयकर समय मे जब चरित्र-भ्रश के कारण जनता अधिक पीड़ित है हमारे धर्माचार्य और साधु-सन्यासी अपने को संगठित करके देश के चरित्र-निर्माण का काम अपने हाथ मे ले लें। जनता मे इस प्रकार की आशा होना स्वाभाविक है और धर्माचार्यों को यह दिखलाने के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त है कि हमारे प्राचीन धर्मों और सम्प्रदायों मे आज भी जान है।

चार्यश्री तुलसी की दिव्य दृष्टि

जिन धर्माचार्यों ने वर्तमान परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझ कर इस
अवसर पर, भारतीय जनता और भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा
र प्रेम से प्रेरित होकर उसकी रक्षा और सेवा करने का निश्चय किया,
मे आचार्यश्री तुलसी का नाम प्रथम गण्य है। आचार्यश्री ने अपना 'अणुव्रत-
न्दोलन' प्रारम्भ करके वह काम किया है जो हमारे सबसे बड़े विश्वविख्यात
ा नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि चरित्र-
त के क्या-क्या बुरे असर देश पर हो चुके हैं और अधिक क्या-क्या हो सकते
। उन्होंने देखा कि इसके कारण देश का कृच्छ्र-समुपार्जित स्वातन्त्र्य खतरे में
। चरित्र-भ्रंश के कारण व्यक्ति, वर्ग, दल और जातियाँ अपने-अपने स्वार्थ-
धन में तत्पर हैं; देश, धर्म और संस्कृति का चाहे जो भी हो जाए। चरित्र-भ्रंश
एक बहुत कड़वा फल यह होता है कि जनता में पारस्परिक विश्वास सर्वथा
ाप्त हो जाता है। जहाँ परस्पर विश्वास नहीं है, वहाँ संगठन नहीं हो सकता
; जहाँ फूट होती है, वहाँ एकता नष्ट होती है। अब देश में फिर अलग-
लग होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नये-नये सूबों की माँग चारों ओर से उठ
ही है। इनके पीछे व्यक्तियों का और वर्गों का स्वार्थ छिपा हुआ है। भाषा-
म्बन्धी झगड़े जिस प्रकार उत्तर भारत में द्रोह और हिंसा के कारण हो रहे
, उसी प्रकार दक्षिण भारत और लंका में भी। व्यक्तिगत जीवन में इतना
विल्य आ गया है कि संयम का कुछ भी मूल्य नहीं रहा। भारतीय संस्कृति
ा प्राण ही संयम है। संयम-प्राण अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ करके आचार्यश्री
लसी ने अपनी धर्मनिष्ठा और दूरदर्शिता दिखलाई है।

अणुव्रत के अन्तर्गत जो पाँच व्रत हैं, भारतीय संस्कृति से स्वल्प भी परिचय
खने वालों के लिए कोई नई बात नहीं है। भारत में जितने धर्म उत्पन्न
ए, उन सब में इनका प्रथम स्थान है। क्योंकि ये सब संयममूलक हैं और
यम ही भारतीय धर्मों का प्राण है। अथवा धर्म-मात्र का, चाहे वह भारतीय
ो अथवा विदेशी, संयम ही किसी-न-किसी रूप में प्राण है। इन व्रतों को
ीकार करने में किसी भी धर्म के अनुयायियों को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।
ये व्रत इसलिए अणुव्रत कहे गये हैं कि महाव्रत इनसे भी बढ़कर हैं और

उनके पालन करने में अधिक आध्यात्मिक शक्ति अपेक्षित है। परन्तु साधारण व्यक्तियों के लिए अणुव्रतों के पालन में भी चरित्र चाहिए। जनता में इन पाँचों तत्त्वों के अभाव भयंकर रूप ग्रहण किये हुए हैं। अहिंसा ही को लीजिये। इसके अभाव का बहुत स्पष्ट रूप तो आमिष-भोजन है। परन्तु इसके और भी सूक्ष्म रूप हैं, जिनको पहचानने के लिए विकसित बुद्धि अपेक्षित है। इनके पालन में त्याग की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर कोई व्यक्ति सच्ची निष्ठा से इनका पालन करे तो उसके जीवन में एक बड़ा परिवर्तन हो जाता है। समाज से उसका सम्बन्ध आनन्दमय हो जाता है, वह भीतर से सुखी बन जाता है। शर्त यह है कि श्रद्धा हो। व्रतों का पालन भीतरी प्रेरणा से हो, बाहर के दबाव से नहीं।

भारतीय संस्कृति का एक पुष्प

जिस पद्धति से आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ किया और उसको समस्त भारत मे फैलाया, उससे उनके व्यक्तित्व का प्राबल्य और माहात्म्य स्पष्ट होता है। पहले तो उन्होंने इस काम के लिए अपने ही जैन-सम्प्रदाय के कुछ साधुओं और साध्वियों को तैयार किया। अब उनके पास अनेकों विद्वान्, सहनशील, हर एक परिस्थिति का सामना करने की शक्ति रखने वाले सहायक हैं जो पद-यात्रा करते हुए भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे संचार करते हैं और जनता में नये प्राण फूंक देते हैं। उनकी नियमबद्ध दिनचर्या को देखकर जनता आश्चर्य-चकित हो जाती है। उसके पीछे शताब्दियों की परम्परा काम कर रही है। आचार्यश्री और उनके सहायकों की जीवन शैली प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक विकसित पुष्प है। इस प्रकार की जीवन शैली भारत के बाहर नहीं देखी जा सकती है। इस पुष्प को आचार्यजी ने भारत माता की सेवा में समर्पित किया है। आजकल के गिरे हुए भारतीय समाज में आचार्यश्री का जन्म हुआ। यही शुभ लक्षण है कि समाज का पुनरुत्थान अवश्य होगा।

आधुनिक भारत के सुकरात

महर्षि विनोद, एम० ए०, पी-एच० डी०, न्यायरत्न, दर्शनालंकार
प्रतिनिधि, विश्व शान्ति आन्दोलन, टोकियो (जापान);
सदस्य, रायल सोसाइटी आफ आर्टस्, लन्दन

तपस्या सर्वश्रेष्ठ गुण है
—पौरुशिस्त (तैत्तरीय उपनिषद्, १-६)

आचार्यश्री तुलसी एक अर्थ में आधुनिक भारत के सुकरात हैं। वह एक पारगत तर्कविद् हैं, किन्तु उनकी मुख्य शिक्षा यह है कि सत्य केवल वाद-विवाद का विषय नहीं, प्रत्युत आचार का विषय है। एक शताब्दी से अधिक की अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय मानस को तर्कप्रधान बना दिया है। महात्मा गांधी, प० मदनमोहन मालवीय और डा० राधाकृष्णन् ने इस बुराई का प्रकटतः बहुत कुछ निवारण किया है। आचार्यश्री तुलसी ने भारत में मिथ्या तर्कवाद की बुराई को दूर करने के लिए एक नया ही मार्ग अपनाया है। उनका आग्रह है कि मनुष्य को नैतिक अनुशासनों का पालन करके सत्यमय और ईश्वरपरायण जीवन बिताना चाहिए।

छोटा आकार, विशाल परिणाम

इन दिनों हम घटनाओं और वस्तुओं की विशालता से प्रभावित होते हैं और उनके आन्तरिक महत्त्व की उपेक्षा करते हैं। फ्रांसीसी गणितज्ञ पोयकेर ने कहा है कि एक चींटी पहाड़ से भी बड़ी होती है। पहाड़ की एक छोटी-सी चट्टान लाखों चींटियों को मार सकती है, किन्तु पहाड़ को यह पता नहीं चलता कि उसे स्वयं को अथवा चींटियों को क्या हुआ। इसके विपरीत हर चींटी को पीड़ा और मृत्यु का अर्थ विदित होता है। आचार्यश्री तुलसी की अणुव्रत-

विचारधारा नैतिक अनुशासन का महत्त्व प्रकट करती है। यह अनुशासन आकार में छोटा होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से बहुत विशाल है।

अपने प्रारम्भिक जीवन में आचार्यश्री तुलसी ने अत्यन्त कड़े अनुशासन का पालन किया। वे यह मानते थे कि कठोर तपस्या के द्वारा ही मनुष्य इस संसार में नया जीवन प्राप्त कर सकता है। नये जीवन का यह पुरस्कार प्रत्येक व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से प्राप्त कर सकता है। नया जीवन अपने आप नहीं मिलता। उसे प्राप्त करना होता है। आचार्य तुलसी के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। भारत जैसे देश में ही आचार्यश्री तुलसी जैसे महापुरुष जन्म ले सकते हैं। तपस्या के द्वारा नया जीवन प्राप्त करने के लिए भारतीय पूर्वजों का उदाहरण और भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा अत्यन्त मूल्यवान् थाती है।

मैं आचार्य तुलसी से मिला हूं। मैंने अनुभव किया कि वे ईश्वरीय पुरुष हैं और उन्होंने ईश्वर का सन्देश फैलाने और उसका कार्य पूरा करने के लिए ही जन्म धारण किया है। वे न भूतकाल में रहते हैं, न भविष्य काल में। वे तो नित्य वर्तमान में रहते हैं। उनका सन्देश सब युगों के लिए और सारी मानव-जाति के लिए है।

ईश्वर द्वारा मनुष्य की खोज

अज्ञात काल से मनुष्य का आन्तरिक विकास केवल एक सत्य के आधार पर हुआ है। वह सत्य है—मानव द्वारा ईश्वर की खोज। इस बात को हम बिल्कुल दूसरी तरह से भी कह सकते हैं कि ईश्वर भी मनुष्य की खोज कर रहा है। ईश्वर को मनुष्य की खोज उतनी ही प्रिय है जितना कि मनुष्य ईश्वर की खोज करने के लिए उत्सुक है। एक बार यदि हम समझ लें कि ईश्वर और मनुष्य दो पृथक् सिद्धान्त नहीं हैं, पूर्ण मनुष्य ही स्वयं ईश्वर होता है तो दुनिया के सभी धर्म आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग प्रतीत होंगे। जब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है तो वह केवल अपनी सर्वश्रेष्ठ आत्मा का ही साक्षात्कार करता है।

आचार्य तुलसी के सन्देश का आज के मानव के लिए यही आशय है कि वह स्वयं अपने लिए अपनी अन्तरात्मा के अन्तिम सत्य का पता लगाये। यही

देवत्व का सिद्धान्त है। उन्होंने स्वयं पूर्ण दर्शन की स्थापना की है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्म-ज्ञान के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अणुव्रत उनके व्यावहारिक दर्शन का नाम है और वह आज के अणु-युग के सर्वथा उपयुक्त है।

अणु शब्द का अर्थ होता है—छोटा और व्रत शब्द का अर्थ है—स्वयं स्वीकृत अनुशासन। जैमिनी के अनुसार व्रत एक मनो व्यापार है, बाह्य कर्म नहीं। अणु भौतिक पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग होता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक भौतिक अणु में अनन्त शक्ति छिपी हुई है।

त्रिसूत्री उपाय

आचार्य तुलसी ने इस वैज्ञानिक सत्य का मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास के क्षेत्र में प्रयोग किया है। उन्होंने यह पता लगाया है कि छोटे-से-छोटा स्वय स्वीकृत अनुशासन मनुष्य की हीन प्रकृति को आमूल बदल सकता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को परिष्कृत करने के लिए दिखाऊ त्याग करने अथवा भक्तिपूर्ण कार्यों का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं होती। यह उपाय त्रिसूत्री है: १. गहरी व्याकुलता, २. असंदिग्ध सकल्प और ३. एकान्त निष्ठा।

१. हम में आत्म-विकास की गहरी व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिए। हम बाहरी वस्तुओं और वातावरण में बहुत अधिक व्यस्त रहते हैं। हमको अपनी अन्तरात्मा की नवीन विशालता को पहचानना चाहिए। फ्रांसीसी यथार्थवादी लेखक सरतरे ने इस व्याकुलता को ही वेदना का नाम दिया है। व्याकुलता की यह भावना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि हर क्षण बेचैनी और व्यग्रता अनुभव हो।

२. आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्पष्ट सुनिश्चित संकल्प अत्यन्त आवश्यक है। इन दिनों किनारे पर रहने का फैशन चल पड़ा है। लोग कहते हैं, हम न इस तरफ हैं, न उस तरफ। राजनीति में यह उचित हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तटस्थता का अर्थ जड़ता होता है। तटस्थता की भावना भय का चिह्न होती है। यदि हममें श्रद्धा है और यदि हम भय से प्रेरित नहीं हैं तो स्पष्ट सकल्प करना कुछ भी कठिन नहीं हो सकता।

१. एकाग्र निष्ठा का अर्थ है—सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की पावन क्रिया विभक्त आत्मा उस जीवन में कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता अनिश्चय हमारे समय का अभिशाप है। प्रायः सारी दुनिया में शिक्षा प्रणालियां इस आन्तरिक विघटन की बुराई का पोषण कर रही हैं। एमर्सन ने बहुत समय पूर्व इस बुराई के विरुद्ध हमें चेताया था। आत्म-समर्पण की भावना हमको आन्तरिक अनुशासन का जीवन बिताने में समर्थ बनायेगी।

इस शताब्दी के शान्ति-दूत

आधुनिक जीवन दिखावटी हो गया है। उसमें कोई गम्भीरता, कोई सार व कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य सम्पूर्ण आत्म-घात के किनारे पहुंच गया है। मनुष्य यदि आचार्य तुलसी के आत्मानुशासन के मार्ग का अनुसरण करे तो वह अपने को आत्म-नाश से बचा सकता है। अणुव्रत की विचारधारा मनुष्य को अपने आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र प्रदान करती है। अल्प अनुशासन आध्यात्मिक शक्ति का विशाल भण्डार सुलभ कर सकता है। आचार्य तुलसी अपने अणुव्रत-अस्त्र के साथ इस शताब्दी के शान्ति-दूत हैं। हम अणुव्रतों का व्याकुलता, दृढ़ संकल्प और निष्ठापूर्वक पालन कर उनके दैवी पथ-प्रदर्शन के अधिकारी बनें।

O

सुधारक तुलसी

डा० विश्वेश्वरप्रसाद, एम० ए०, डी० लिट
अध्यक्ष, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

विश्व के इतिहास मे समय-समय पर अनेक समाज-सुधारक होते रहे हैं, जिनके प्रभाव से समाज की गति एक सीधे रास्ते पर बनी रही है। जब-जब वह राजमार्ग या धर्ममार्ग को छोड़कर इधर-उधर भटकने लगता है, तब-तब कोई महान् नेता, उपदेशक और सुधारक आकर समाज की नकेल पकड़ उसे ठीक मार्ग पर ला देता है। भारतवर्ष के इतिहास मे तो यह बात और भी सही है। इसीलिए गीता मे भगवान् कृष्ण ने कहा था कि "जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब अधर्म को हटाने के लिए मैं अवतरित होता हूँ।" महान् सुधारक ईश्वर के अंश ही होते हैं और उसी की प्रेरणा से वह समाज को धर्म के राजमार्ग पर लाते हैं। समाज की स्थिरता और दृढ़ता के लिए आवश्यक है कि वह धर्म की राह पकड़े। यह धर्म क्या है? मेरी समझ मे धर्म वही है, जिससे समाज का अस्तित्व बने। जिस चलन से समाज विशृंखल हो और उसकी इकाई को ठेस लगे, वह अधर्म है। समाज को शृंखलाबद्ध रखने के लिए और उसके अंगो-प्रत्यगो में एकता और सहानुभूति बनाये रखने के लिए धर्म के नियम बनाये जाते हैं। यद्यपि समाज की गति के साथ इन नियमो मे परिवर्तन भी होता रहता है, फिर भी कुछ नियम मौलिक होते हैं जो सदा ही समान रहते हैं और उनके अकुलित होने पर समाज मे शिथिलता आ जाती है, अनाचार बढ़ता है और समाज का अस्तित्व ही नष्ट होने लगता है। ये नियम सदाचार कहलाते हैं और हर युग तथा काल मे एक समान ही रहते हैं। शास्त्रों में धर्म के दस लक्षणों का वर्णन है। ये लक्षण मौलिक हैं और उनमे उथल-पुथल होने से समाज की स्थिति ही खतर मे पड़ जाती है। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि ऐसे ही नियम हैं जो समाज के आरम्भ से आज तक और भविष्य में समाज के

पुनः कर्म-काण्ड में लिप्त हुए। मठों और मन्दिरों के निर्माण, व्रतों और को ही सब कुछ माना गया, जिससे आचरण में शिथिलता। समाज ढीला पड़ने लगा और आपसी सम्बन्ध बिगड़ने लगे। राजनीतिक साम्राज्यों का बनना-बिगड़ना सैनिक बल पर ही आधारित था और को हानि पहुँची। हर्ष के काल में यह भावना उत्तरोत्तर और तथा देश पर बाह्य आक्रमण हुए। देश के भीतर युद्धों की चल पड़ी और विदेशी धर्म का भी प्रादुर्भाव हुआ। जनसमूह घबड़ा सच्चे मार्ग को पाने के लिए छटपटा उठा। इस काल में अनेक धर्म-और नेता देश में अवतरित हुए, जिनका उपदेश फिर यही था कि आचरण ठीक करो, भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करो और पारस्परिक सामञ्जस्य और सहिष्णुता को बढ़ाओ जिससे मत-मतान्तरों के झगड़ों उठकर सत्य-मार्ग का आश्रय लिया जाए। अत्याचार से इसी मार्ग। मिल सकती थी।

, रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी, दादू आदि अनेक कई सौ वर्षों में होते रहे और समाज को सीधे मार्ग पर चलाने का करते रहे जिससे उस समय के शासन और राजनीति की कठोरताओं के हिन्दू-समाज और व्यक्ति शान्ति और आत्म-विश्वास कायम रख सका। देश पर पुनः एक संकट अठारहवीं शती में आया और इस बार विदेशी और विदेशी संस्कृति ने एक जोरदार आक्रमण किया, जिससे भारतीय और देश के धर्म का पूर्ण अस्तित्व ही नष्ट प्रायः हो गया था। पश्चिम ईसाई-सम्प्रदाय ने हिन्दुओं को अपने ... किया और कार्य में मिशनरी लोगों को ... प्राप्त थी। ... शती के प्रारम्भ में देश ... धार्मिक आचरण ... आस्थायुक्त ... यहाँ के वासी पाश्चात्य ... विशेषतः नई अंग्रेजी ... परम्पराओं, बुरी ... या नास्तिकता को ... बचाने का ... प्रभृति

आर्थिक दशा सुधरे। इस योजना के लिए आवश्यक था कि सच्चरित्र, परहित-रत, कर्तव्य-परायण, सदाचारी नेता, हाकिम, व्यापारी, शिक्षक, कारीगर आदि देश के विकास की बागडोर अपने हाथ में लें। यदि इन वर्गों में सदाचार की कमी हुई तो देश का हित न होकर अहित हो जाएगा और देश उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश जिस समय यह सुअवसर आया और आशा हुई कि अब इतने वर्षों के कठोर परिश्रम और त्याग के फलस्वरूप देश की उन्नति होगी और गरीबी मिटेगी, उस समय देखा गया कि कर्मचारियों, नेताओं, व्यापारियों आदि में अनाचार और स्वार्थ की वृद्धि हो रही है; क्योंकि अब इनके लिए नित्य नये अवसर आने लगे। अगर यही क्रम बना रहा तो नई योजनाओं का कोई लाभ न होगा और उनकी सफलता संदिग्ध बन जाएगी। देश में चारों ओर यही आवाज उठने लगी कि शासन को इस प्रकार के मगर-मच्छों से बचाया जाए और भ्रष्टाचार (Corruption) को दूर किया जाए।

ऐसे समय में आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को प्रबल किया और अनेक वर्गों के सदस्यों को पुन. सदाचार की ओर प्रेरित किया। आचार्य तुलसी ने यह काम पहले ही शुरू कर दिया था, पर इसकी प्रधानता और गतिशीलता स्वतन्त्रता के बाद, विशेष रूप से बढ़ी। इनका यह आन्दोलन अपने ढंग का निराला है। धर्म के सहारे व्यक्ति को ये व्रती बनाते हैं और उसको इस प्रकार बल देकर कुमार्ग और कुरीतियों से अलग करके सदाचार की ओर अग्रसर करते हैं। यह व्रत छोटे-छोटे होते हैं, पर इनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर होता है, जो व्यक्ति तथा समाज के जीवन में शान्ति ला देता है। व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों, विद्यार्थियों आदि में यह आन्दोलन चल चुका है और इसके प्रभाव में सहस्रों व्यक्ति आ चुके हैं। आज इसकी महत्ता स्पष्ट न जान पड़े, पर कल के समाज में इसका असर पूरी तरह दिखाई पड़ेगा, जब समाज पुनः सदाचार और धर्म द्वारा अनुप्लावित होगा और भविष्य में आज की बुराइयों का अस्तित्व न होगा। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य मुनिगण का कार्य भविष्य के लिए है और नये समाज के संगठन के लिए सहायक है। इसकी सफलता देश के कल्याण के लिए है। आशा है, यह सफल होगा और आचार्य तुलसी सुधारकों की उस परम्परा में जो इस देश के इतिहास में बराबर उन्नति लाते रहे हैं, अपना मुख्य स्थान बना जाएंगे। उनके उपदेश और नेतृत्व से समाज गौरवशील बनेगा।

धार्मिक दशा सुधरे। इस योजना के लिए आवश्यक था कि सच्चरित्र, परहित-रत, कर्तव्य-परायण, सदाचारी नेता, हाकिम, व्यापारी, शिक्षक, कारीगर आदि देश के विकास की बागडोर अपने हाथ मे लें। यदि इन वर्गों मे सदाचार की कमी हुई तो देश का हित न होकर अहित हो जाएगा और देश उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश जिस समय यह सुअवसर आया और आशा हुई कि अब इतने वर्षों के कठोर परिश्रम और त्याग के फलस्वरूप देश की उन्नति होगी और गरीबी मिटेगी, उस समय देखा गया कि कर्मचारियों, नेताओं, [illegible]रियों आदि में अनाचार और स्वार्थ की वृद्धि हो रही है ; क्योंकि अब [illegible]ए नित्य नये अवसर आने लगे। अगर यही क्रम बना रहा तो नई [illegible] का कोई लाभ न होगा और उनकी सफलता संदिग्ध बन जाएगी। [illegible]रों ओर यही आवाज उठने लगी कि शासन को इस प्रकार के अगर-[illegible]चाया जाए और भ्रष्टाचार (Corruption) को दूर किया जाए। [illegible]मय में आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को प्रबल किया और [illegible]कि सदस्यों को पुन सदाचार की ओर प्रेरित किया। आचार्य तुलसी [illegible]पहले ही शुरू कर दिया था, पर इसकी प्रधानता और गतिशीलता [illegible]बाद, विशेष रूप से बढ़ी। इनका यह आन्दोलन अपने ढंग का [illegible]धर्म के सहारे व्यक्ति को ये व्रती बनाते हैं और उसको इस प्रकार [illegible] और कुरीतियों से अलग करके सदाचार की ओर अग्रसर [illegible] छोटे [illegible]ोटे होते हैं, पर इनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर होता [illegible] समाज के जीवन में क्रान्ति ला देता है। व्यापारियों, सरकारी [illegible]थियों आदि मे यह आन्दोलन चल चुका है और इसके प्रभाव [illegible] आ चुके हैं। आज इसकी महत्ता स्पष्ट न जान पड़े, पर कल [illegible] असर पूरी तरह दिखाई पड़ेगा, जब समाज पुनः सदाचार [illegible] होगा और भविष्य मे आज की बुराइयो का अस्तित्व [illegible] उनके शिष्य मुनिगण का कार्य भविष्य के लिए [illegible] के संगठन के लिए सहायक है। इसकी सफलता देश के [illegible] है, यह सफल होगा और आचार्य तुलसी सुधारकों को [illegible]देश के इतिहास में बराबर उन्नति लाते रहे हैं, अपना [illegible] उनके उपदेश और नेतृत्व से समाज गौरवशील बनेगा।

आर्थिक दशा सुधरे। इस योजना के लिए आवश्यक था कि सच्चरित्र, परहित-रत, कर्तव्य-परायण, सदाचारी नेता, हाकिम, व्यापारी, शिक्षक, कारीगर आदि देश के विकास की बागडोर अपने हाथ में लें। यदि इन वर्गों में सदाचार की कमी हुई तो देश का हित न होकर अहित हो जाएगा और देश उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश जिस समय यह सुअवसर आया और आशा हुई कि अब इतने वर्षों के कठोर परिश्रम और त्याग के फलस्वरूप देश की उन्नति होगी और गरीबी मिटेगी, उस समय देखा गया कि कर्मचारियों, नेताओं, व्यापारियों आदि में अनाचार और स्वार्थ की वृद्धि हो रही है; क्योंकि अब इनके लिए नित्य नये अवसर आने लगे। अगर यही क्रम बना रहा तो नई योजनाओं का कोई लाभ न होगा और उनकी सफलता सदिग्ध बन जाएगी। देश में चारों ओर यही आवाज उठने लगी कि शासन को इस प्रकार के मगर-मच्छों से बचाया जाए और भ्रष्टाचार (Corruption) को दूर किया जाए।

ऐसे समय में आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को प्रबल किया और अनेक वर्गों के सदस्यों को पुन. सदाचार की ओर प्रेरित किया। आचार्य तुलसी ने यह काम पहले ही शुरू कर दिया था, पर इसकी प्रधानता और गतिशीलता स्वतन्त्रता के बाद, विशेष रूप से बढ़ी। इनका यह आन्दोलन अपने ढंग का निराला है। धर्म के सहारे व्यक्ति को ये व्रती बनाते हैं और उसको इस प्रकार बल देकर कुमार्ग और कुरीतियों से अलग करके सदाचार की ओर अग्रसर करते हैं। यह व्रत छोटे-छोटे होते हैं, पर इनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर होता है, जो व्यक्ति तथा समाज के जीवन में क्रान्ति ला देता है। व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों, विद्यार्थियों आदि में यह आन्दोलन चल चुका है और इसके प्रभाव में सहस्रों व्यक्ति आ चुके हैं। आज इसकी महत्ता स्पष्ट न जान पड़े, पर कल के समाज में इसका असर पूरी तरह दिखाई पड़ेगा, जब समाज पुनः सदाचार और धर्म द्वारा अनुप्राणित होगा और भविष्य में आज की बुराइयों का अस्तित्व न होगा। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य मुनिगण का कार्य भविष्य के लिए है और नये समाज के सगठन के लिए सहायक है। इसकी सफलता देश के कल्याण के लिए है। आशा है, यह सफल होगा और आचार्य तुलसी सुधारकों की उस परम्परा में जो इस देश के इतिहास में बराबर उन्नति लाते रहे हैं, अपना मुख्य स्थान बना जाएंगे। उनके उपदेश और नेतृत्व से समाज गौरवशील बनेगा।

मेरा सम्पर्क

का० यशपाल

लाहौर-षड्यन्त्र के शहीद सुखदेव और मैं लाहौर के नेशनल कालेज में सहपाठी थे। एक दिन लाहौर जिला-कचहरी के समीप हमे दो श्वेताम्बर जैन साधु सामने से आते दिखाई दिये। हम दोनो ने मन्त्रणा की कि इन साधुओं के अहिंसा-व्रत की परीक्षा की जाए। हम उन्हे देखकर बहुत जोर से हंस पड़े। सुखदेव ने उनकी ओर सकेत करके कह दिया, "देखो तो इनका पाखंड !" उत्तर में हमें जो क्रोध-भरी गालियाँ सुनने को मिलीं, उससे उस प्रकार के साधुओं के प्रति हमारी अश्रद्धा, गहरी विरक्ति मे बदल गई।

मेरी प्रवृत्ति किसी भी सम्प्रदाय के अध्यात्म की ओर नहीं है। कारण यह है कि मैं इहलोक की पार्थिव परिस्थितियो और समाज की जीवन-व्यवस्था से स्वतन्त्र मनुष्य की, इस जगत् के प्रभावो से स्वतन्त्र चेतना मे विश्वास नहीं कर सकता। अध्यात्म का आधार तथ्यो से परखा जा सकने वाला ज्ञान नहीं है, उसका आधार केवल शब्द-प्रमाण ही है। इसलिए मैं समाज का कल्याण आध्यात्मिक विश्वास मे नहीं मान सकता। अध्यात्म में रति, मुझे मनुष्य को समाज से उन्मुख करने वाली और तथ्यों से भटकाने वाली स्वार्थ परक आत्मरति ही जान पड़ती है। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन के लक्ष्यो मे, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने की घोषणा से, मुझे कुछ भी उत्साह नहीं हुआ था।

जैन-दर्शन का मुझे सम्यक् परिचय नहीं है। 'काकचचु-न्याय' से ऐसा समझता हूं कि जैन-दर्शन ब्रह्माण्ड और ससार का निर्माण और नियमन करने वाली किसी ईश्वर की शक्ति मे विश्वास नहीं करता। वह अजर-अमर आत्मा मे विश्वास करता है, इसलिए जैन मुनियों और आचार्यों द्वारा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने के आन्दोलन की बात मुझे बिल्कुल असगत और व्यर्थ जान पड़ी। ऐसे आन्दोलन को मैं केवल अन्तर्मुख-चिन्तन की आत्मरति

ही समझता था।

दो-तीन वर्ष पूर्व आचार्य तुलसी लखनऊ में आये थे। आचार्यश्री के सत्संग का आयोजन करने वाले सज्जनों ने मुझे सूचना दी कि आचार्यश्री ने अन्य कई स्थानीय नागरिकों में मुझे भी स्मरण किया है। लड़कपन की कटु स्मृति के बावजूद उनके दर्शन करने के लिए चला गया था। उस सत्संग में आये हुए अधिकांश लोग प्राय आचार्य तुलसी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट थे। मैंने उनसे संक्षेप में आत्मा के अभाव में भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे और उन्होंने मुझसे समाजवाद की भावना को व्यवहारिक रूप दे सकने के सम्बन्ध में बात की थी।

आचार्य का दर्शन करके लौटा, तो उनकी सौम्यता और सद्भावना के गहरे प्रभाव से सन्तोष अनुभव हुआ। अनुभव किया, जैन साधुओं के सम्बन्ध में लड़कपन की कटु स्मृति से ही धारणा बना लेना उचित नहीं था।

दो बार और—एक बार अकेले और एक बार पत्नी-सहित आचार्य तुलसी के दर्शन के लिए चला गया था और उनसे आत्मा के अभाव में भी पुनर्जन्म की सम्भावना के सम्बन्ध में बातें की थी। उनके बहुत संक्षिप्त उत्तर मुझे तर्कसंगत लगे थे। उस सम्बन्ध में काफी सोचा, और फिर सोच लिया कि पुनर्जन्म हो या न हो, इस जन्म के दायित्वों को ही निबाह सकूँ, यही बहुत है।

एक दिन मुनि नगराजजी व मुनि महेन्द्रकुमारजी ने मेरे मकान पर पधारने की कृपा की। उनके आने से पूर्व उनके बैठ सकने के लिए कुर्सियाँ हटा कर एक तख्त डालकर सीतलपाटी बिछा दी थी। मुनियों ने उस तख्त पर बिछी सीतलपाटी पर आसन ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। तख्त हटा देना पड़ा। फर्श की दरी भी हटा देनी पड़ी। तब मुनियों ने अपने हाथ में लिये चँवर से फर्श को झाड़ कर अपने आसन बिछाये और बैठ गये। मैं और पत्नी उनके सामने फर्श पर ही बैठ गए।

दोनों मुनियों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से शोषणहीन समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में मुझसे कुछ प्रश्न किये। मैंने अपने ज्ञान के अनुसार उत्तर दिये। मुनियों ने बताया कि आचार्यश्री के सामने अणुव्रत-आन्दोलन की भूमिका पर एक विचारणीय प्रश्न है। अणुव्रत में आने वाले कुछ एक उद्योगपति अपने उद्योगों को शोषण-मुक्त बनाना चाहते हैं, पर अब तक उन्हें एक समुचित

अवधारणा इस दिशा में नहीं बढ़ रही है। लाभ-विभाजन का मान-दण्ड क्या हो, यह एक प्रश्न अभी भी नहीं सुलझा पा रहे हैं। इस दिशा में मनुष्य बिठाने के लिए वे अपना आभार कम करने के लिए भी तैयार हैं।

मैंने अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से उत्तर दिया कि उद्योग-धन्धों में यदि लाभ नहीं होगा, तो हानि होगी। उद्योग-धन्धों अथवा उत्पादन का तो प्रयोजन ही यह होता है कि उत्पादन में धन और श्रम के रूप में जितना मूल्य लगे उससे अधिक मूल्य का फल हो। सेर-भर गेहूँ बोकर सेर-भर गेहूँ पाने के लिए खेती नहीं की जाती। शोषण उद्योग-धन्धों से होने वाले लाभ के कारण नहीं होता, बल्कि वह लाभ एक व्यक्ति द्वारा ही हथिया लिए जाने के कारण या लाभ का वितरण सब श्रम करने वालों में समान रूप से न किये जाने के कारण होता है। अणुव्रती-जनहित के विचार से उद्योग-धन्धे आरम्भ करें तो उनकी सफलता न्यूनतम व्यय और अधिक-से-अधिक उत्पादन में होगी। उन उद्योग-धन्धों द्वारा श्रमिकों को उचित जीविका देने के बाद भी यथेष्ठ लाभ होना चाहिए, परन्तु वह लाभ किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नहीं, बल्कि श्रमिकों की ही सम्मिलित सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। साधनों को कायम रखने और बढ़ाने के अतिरिक्त वह लाभ—धन उन उद्योग-धन्धों में लगे हुए श्रमिकों को शिक्षा, चिकित्सा तथा सांस्कृतिक सुविधाएं देने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। परन्तु उद्योग-धन्धों से लाभ अवश्य होना चाहिए; समाजवादी देशों में ऐसा ही किया जाता है।

मेरी बात से मुनियों का समाधान नहीं हुआ। उन्होंने कहा—जिस प्रणाली और व्यवस्था में लाभ का उद्देश्य रहेगा, उस व्यवस्था से निश्चय ही शोषण होगा। वह व्यवस्था और प्रणाली अहिंसा और पारस्परिक सहयोग की नहीं हो सकेगी।

मैं मुनियों का समाधान नहीं कर सका; परन्तु इस बात से मुझे अवश्य संतोष हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत शोषण-मुक्ति के प्रयोगों पर सोचा जा रहा है।

मैंने मुनिजी से अनुमति लेकर एक प्रश्न पूछा—आप अपने व्यक्तिगत कार्य को छोड़कर समाज-सेवा करना चाहते हैं; ऐसी अवस्था में आपका समाज और सामाजिक व्यवहार से पृथक् रहकर जीवन बिताना क्या तर्कसंगत

और सहायक हो सकता है ? इसमे वैचित्र्य के अतिरिक्त कौन सार्थकता है ? इससे आपको असुविधा ही तो होती होगी।

मुनिजी ने बहुत शान्ति से उत्तर दिया—हमे असुविधा हो, तो उसकी चिन्ता हमे होनी चाहिए। हमारे वेश अथवा कुछ व्यवहार आपको विचित्र लगे हैं, तो उन्हें हमारी व्यक्तिगत रुचि या विश्वास की बात समझ कर उसे सहना चाहिए। हमारे जो प्रयत्न आपको समाज के हितकारी जान पड़ते हैं, उनमे तो आप सहयोगी बन ही सकते हैं।

मुनिजी की बात तर्कसंगत लगी। उनके चले जाने के बाद ख्याल आया कि यदि किसी की व्यक्तिगत रुचि और सन्तोष, समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं, तो उनसे खिन्न होने की क्या जरूरत ? यदि मैं दिन-भर सिगरेट फूंकते रहने की अपनी आदत को असामाजिक नही समझता, उस आदत को क्षमा कर सकता हूं, तो जैन मुनियो के मुख पर कपड़ा रखने और हाथ मे चँवर लेकर चलने की इच्छा से ही क्यों खिन्न हूं ? आचार्य तुलसी की प्रेरणा से अणुव्रत-आन्दोलन यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिए उद्बोधन करता हुआ जनसाधारण के पार्थिव कष्टों को दूर करने और उन्हें मनुष्य की तरह जीवित रह सकने मे भी योगभूत बनता है तो मैं उसका स्वागत करता हूं।

मानवता के पोषक, प्रचारक व उन्नायक

श्री विष्णु प्रभाकर

किसी व्यक्ति के बारे मे लिखना बहुत कठिन है। कहूँगा, संकट से पूर्ण है। फिर किसी पंथ के आचार्य के बारे मे। तब तो विवेक-बुद्धि की उपेक्षा करके श्रद्धा के पुष्प अर्पण करना ही सुगम मार्ग है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि श्रद्धा सहज होती ही नही; परन्तु जहाँ श्रद्धा सहज हो जाती है, वहाँ प्रायः लेखनी उठाने का अवसर ही नही आता। श्रद्धा का स्वभाव है कि वह बहुधा धर्म में जीती है। लेखनी मे अक्सर निर्णायक बुद्धि ही जागृत हो जाती है और वही संकट का क्षण है। उससे पलायन करके कुछ लेखक तो प्रशसात्मक विशेषणों का प्रयोग करके मुक्ति का मार्ग ढूंढ लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो उतने ही विशेषणो का प्रयोग उसकी विपरीत दिशा में करते है। सच तो यह है कि विशेषण के मोह से मुक्त होकर चिन्तन करना संकटापन्न है। वह किसी को प्रिय नही हो सकता। इसीलिए हम प्रशसा अथवा निन्दा के अर्थों में सोचने के आदी हो गए।

फिर यदि लेखक मेरे जैसा हो, तो स्थिति और विषम हो जाती है। आचार्यश्री तुलसी गणी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ की गुरु परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य हैं और मैं तेरापंथी तो क्या, जैन भी नही हूँ। सच पूछा जाए तो कहीं भी नही हूँ। किसी मत, पंथ अथवा दल मे अपने को समा नहीं पाता। धर्म ही नही, राजनीति और साहित्य के क्षेत्र मे भी····। लेकिन यह सब कहने पर भी मुक्ति क्या सुलभ है! यह सब भी तो कलम से ही लिखा है। अब तर्क आश्वस्त करे या न करे, पराजित तो कर ही देता है। इसलिए लिखना भी अनिवार्य हो उठता है।

विष अमृत बन सकता है?

आज के युग में हम कगार पर खड़े हैं। अन्तरिक्ष-युग है। धरती की गोलाई

को लेकर सुदूर अतीत में लगाए हुई है। उसी तथ्य को आज का मानव आँखों से देख पाता है। इस प्रगति ने मानव सहभूति को आलोकित भी किया है। दृष्टि की क्षमता बढ़ी है। विवेक-बुद्धि भी जागृत हुई है, पर मानव का अन्तर-मन अभी भी वहीं है। हिंसा और घृणा को हम विवादास्पद मानकर छोड़ भी दें, लेकिन साम्प्रदायिकता और जातीयता अधर्मसहिष्णुता और मात्सर्य—ये सब उसे अभी पूरी तरह जकड़े हुए है। धर्म मत अथवा पंथ में न हों, राज-नीति और साहित्य में हों, तो क्या उनका विष अमृत बन सकता है? भले ही हम चन्द्रलोक में पहुँच जाएं अथवा शुक्र पर शासन करने लगें। उस सफलता का क्या अर्थ होगा, यदि मनुष्य अपनी मनुष्यता से ही हाथ धो बैठे? मनुष्यता सापेक्ष हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए कुछ करने की कामना में, अर्थात् 'स्व' को गौण करने की प्रवृत्ति में, सापेक्षता है भी, तो कम-से-कम। यहाँ स्व को गौण करना स्व को उठाना है।

आचार्यश्री तुलसी गणी के पास जाने का जब अवसर मिला, तब जैसे इस सत्य को हमने फिर से पहचाना हो। या कहें, उसकी शक्ति से फिर से परिचय पाया हो। जब-जब भी उनसे मिलने का सौभाग्य हुआ, तब-तब यही अनुभव हुआ कि उनके भीतर एक ऐसी सात्त्विक शक्ति है जो मानवता के हितार्थ कुछ करने को पूरी ईमानदारी के साथ आतुर है। जो अपने चारों ओर फैली अनास्था, आचरणहीनता और अमानवीयता को भस्म कर देना चाहती है।

कला में सौन्दर्य के दर्शन

पहली भेंट बहुत संक्षिप्त थी। किन्हीं के आग्रह पर किन्हीं के साथ जाना पड़ा। जाकर देखता हूँ कि शुभ्र-श्वेत वस्त्रधारी, मँझले कद के एक जैन आचार्य साधु साध्वियों से घिरे हमारे प्रणाम को मधुर मन्द मुस्कान से स्वीकार करते हुए आशीर्वाद दे रहे हैं। गौर वर्ण, ज्योतिर्मय दीप्त नयन, मुख पर विद्वत्ता का जड़ गाम्भीर्य नहीं, बल्कि ग्रहणशीलता का तारल्य देखकर आग्रह की कटुता घुल-घुल गई। याद नहीं पड़ता कि कुछ बहुत बातें हुई हों; पर उनके शिष्य-शिष्याओं की कला-साधना के कुछ नमूने अवश्य देखे। सुन्दर हस्तलिपि, पात्रों पर चित्रांकन; समय का सदुपयोग तो था ही, साधुओं के निरालस्य का प्रमाण भी था। यह भी जाना कि साधु-दल शुष्कता का अनुमोदक नहीं है,

मानवता के पोषक, प्रचारक व उन्नायक

श्री विष्णु प्रभाकर

किसी व्यक्ति के बारे में लिखना बहुत कठिन है। कहूँगा, संकट से पूर्ण है। फिर किसी पंथ के आचार्य के बारे में। तब तो विवेक-बुद्धि की उपेक्षा करके श्रद्धा के पुष्प अर्पण करना ही सुगम मार्ग है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि श्रद्धा सहज होती ही नहीं; परन्तु जहाँ श्रद्धा सहज हो जाती है, वहाँ प्रायः लेखनी उठाने का अवसर ही नहीं आता। श्रद्धा का स्वभाव है कि वह बहुधा मर्म में जीती है। लेखनी में अवसर निर्णायक बुद्धि ही जागृत हो जाती है और वही संकट का क्षण है। उससे पलायन करके कुछ लेखक तो प्रशंसात्मक विशेषणों का प्रयोग करके मुक्ति का मार्ग ढूंढ लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो उतने ही विशेषणों का प्रयोग उसको विपरीत दिशा में करते हैं। सच तो यह है कि विशेषण के मोह से मुक्त होकर चिन्तन करना संकटापन्न है। वह किसी को प्रिय नहीं हो सकता। इसीलिए हम प्रशंसा अथवा निन्दा के अर्थों में सोचने के आदी हो गए।

फिर यदि लेखक मेरे जैसा हो, तो स्थिति और विषम हो जाती है। आचार्यश्री तुलसी गणी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ की गुरु परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य हैं और मैं तेरापंथी तो क्या, जैन भी नहीं हूँ। सच पूछा जाए तो कहीं भी नहीं हूँ। किसी मत, पथ अथवा दल में अपने को समा नहीं पाता। धर्म ही नहीं, राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में भी······। लेकिन यह सब कहने पर भी मुक्ति क्या सुलभ है! यह सब भी तो कलम से ही लिखा है। अब तर्क आश्वस्त करे या न करे, पराजित तो कर ही देता है। इसलिए लिखना भी अनिवार्य हो उठता है।

विष अमृत बन सकता है?

आज के युग में हम कगार पर खड़े हैं। अन्तरिक्ष-युग है। धरती की गोलाई

को लेकर सुदूर व्यतीत मे हत्याएं हुई हैं। इसी तथ्य को आज का मानव आँखों से देख पाया है। इस प्रगति ने मानस पटभूमि को आन्दोलित भी किया है। दृष्टि की क्षमता बढी है। विवेक-बुद्धि भी *जागृत हुई है, पर मानव का अन्तर-मन* अभी भी वहीं है। हिंसा और घृणा की बात विवादास्पद मानकर छोड़ भी दें, लेकिन साम्प्रदायिकता और जातीयता, अर्थलोलुपता और मात्सर्य—ये सब उसे अभी पूरी तरह जकड़े हुए हैं। धर्म, मत अथवा पथ में न हों, राजनीति और साहित्य मे हों, तो क्या उनका विष अमृत बन सकता है? भले ही हम चन्द्रलोक मे पहुँच जाए अथवा शुक्र पर शासन करने लगें। उस सफलता का क्या अर्थ होगा, यदि मनुष्य अपनी मनुष्यता से ही हाथ धो बैठे? मनुष्यता सापेक्ष हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए कुछ करने की कामना मे, अर्थात् 'स्व' को गौण करने की प्रवृत्ति में, सापेक्षता है भी, तो कम-से-कम। वहाँ स्व को गौण करना स्व को उठाना है।

आचार्यश्री तुलसी गणी के पास जाने का जब अवसर मिला, तब जैसे इस सत्य को हमने फिर से पहचाना हो। या कहें, उसकी शक्ति से फिर से परिचय पाया हो। जब-जब भी उनसे मिलने का सौभाग्य हुआ, तब तब यही अनुभव हुआ कि उनके भीतर एक ऐसी सात्त्विक अग्नि है जो मानवता के हितार्थ कुछ करने को पूरी ईमानदारी के साथ आतुर है। जो अपने चारों ओर फैली अनास्था, आचरणहीनता और अमानवीयता को भस्म कर देना चाहती है।

कला में सौन्दर्य के दर्शन

पहली भेंट बहुत संक्षिप्त थी। किन्हीं के आग्रह पर किन्हीं के साथ जाना पड़ा। जाकर देखता हूँ कि शुभ्र-श्वेत वस्त्रधारी, मँझले कद के, एक जैन आचार्य साधु-साध्वियों से घिरे हमारे प्रणाम को मधुर मन्द मुस्कान से स्वीकार करते हुए आशीर्वाद दे रहे हैं। गौर वर्ण, ज्योतिर्मय दीप्त नयन, मुख पर विद्वत्ता का जड़ गाम्भीर्य नहीं, बल्कि ग्रहणशीलता का तारल्य देखकर आग्रह की कटुता घुल-घुल गई। याद नहीं पड़ता कि कुछ बहुत बातें हुई हों; पर उनके शिष्य-शिष्याओं की कला-साधना के कुछ नमूने अवश्य देखे। सुन्दर हस्तलिपि, पात्रों पर चित्रांकन; समय का सदुपयोग तो था ही, साधुओं के निरालस्य प्रमाण भी था। यह भी जाना कि साधु-दल मुक्तता का अनुमोदक नहीं

कला में सौन्दर्य के दर्शन करने की क्षमता भी रखता है।

सौम्य और आग्रह-विहीन

दूसरी बार जोधपुर में मिलना हुआ। कोई उत्सव था, भाषण देने वाल
को अच्छी खासी भीड़ थी। स्वागत-सत्कार में भी कोई कमी नहीं थी। मु
बहुत अच्छा नहीं लगा। भाषण और भीड़ से मुझे अरुचि है; और अग
स्वागत-सत्कार के पीछे सहज भाव नहीं है, तो वह भी एक बोझ बन कर र
जाता है। परन्तु वहीं पर आचार्यश्री तुलसी को जी-भरकर पास से देखा
विचार-विनिमय करने का अवसर भी मिला। बहुत अच्छी तरह याद है कि
रात को बाल-दीक्षा आदि कुछ प्रश्नों को लेकर आचार्यश्री से काफी स्पष्ट बातें
हुई थीं। तभी पाया कि वे सौम्य और आग्रह विहीन हैं। अहिंसा और अपरिग्रह
के अपने मार्ग में उन्हें इतना सहज विश्वास है कि महान् का समाधान करने
में मस्तिष्क पर कुछ अधिक जोर देना नहीं पड़ता। आलोचना से उत्तेजित
नहीं होते। सहिष्णुता उनके लिए सहज है, इसलिए उद्विग्नता भी नहीं है। है
केवल एकाग्रता और आग्रह-विहीन पक्ष समर्थन। वे कुशल वक्ता हैं। जो कुछ
कहना चाहते हैं बिना किसी आडंबर के प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं।
आश्वस्त तो न तब हुआ था, न आज तक हो सका हूँ; परन्तु विराट मानवता
में उनकी अटूट आस्था ने मुझे निश्चय ही प्रभावित किया था। वह अणुव्रत-
आन्दोलन के जन्मदाता हैं। उनकी दृष्टि में चरित्र-उत्थान का वह सहज
मार्ग है। कवि की भाँति मैं अणुव्रत की अणु-बम से काव्यात्मक तुलना नहीं
कर सकता। करना चाहूँगा भी नहीं। उस सारे आन्दोलन के पीछे जो उदात्त
भावना है, उसको स्वीकार करते हुए भी उसकी संचालन-व्यवस्था में मेरी
आस्था नहीं है। परन्तु उन व्रतों का मूलाधार वही मानवता है, जो कालातीत
है, अभिन्न है और है अजेय।

विश्व में सत्ता का खेल है। सत्ता, अर्थात् स्व की महिमा; इसीलिए वह
अकल्याणकर है। इसी अकल्याण का दंश निकालने के लिए यह अणुव्रत-
आन्दोलन है। इन सबका दावा है कि चरित्र-निर्माण द्वारा सत्ता को कल्याण
कर बनाया जा सकता है; परन्तु मुझे लगता है कि उद्देश्य शुभ होते
पर भी यह दावा ही सबसे बड़ी बाधा है। क्योंकि जहाँ दावा है, वहाँ साधन

और शासन जुटाने वाले स्वयं सत्ता के शिकार हो जाते हैं, इसलिए उनके आस-पास दल उग आते हैं। पैसा देते हैं और देकर मन-ही-मन सहस्र गुना पाने की आशा रखते हैं। इसीलिए जैसे ही सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति का मार्ग-दर्शन सुलभ नहीं रहता, वे सत्ता के दलदल में आकण्ठ फंस जाते हैं। स्वयं आचार्यश्री ने कहा है—"धन और राज्य की सत्ता में विलीन धर्म को विष कहा जाए तो कोई अतिरेक न होगा।" इससे अधिक स्पष्ट और कठोर शब्दों का प्रयोग हम नहीं कर सकते।

क्रियात्मक शक्ति और संवेदनशीलता

पर शायद यह तो विषयान्तर हो गया। यह तो मेरी अपनी शंकामात्र है। इससे अणुव्रत-आन्दोलन के जन्मदाता की मानवता में आशंका क्यों हो! जो व्यक्ति निवृत्तिमूलक जैन धर्म को जन-कल्याण के क्षेत्र में ले आया, मानवता में उसकी आस्था निश्चय ही अद्भुत है। इसीलिए अनुकरणीय भी है। उनकी क्रियात्मक शक्ति और उनकी संवेदनशीलता निश्चय ही किसी दिन मानवता के रेगिस्तान को नाना वर्णों के पुष्पों से आच्छादित हरे-भरे सुरम्य प्रदेश में परिवर्तित कर देगी। कारलाइल ने कहीं लिखा है, 'किसी महापुरुष की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटे के साथ कैसा बर्ताव करता है।" आचार्यश्री स्वभाव से ही सबको समान मानते हैं। बचपन से ही धर्म में उनकी रुचि रही है और ये संस्कार उन्हें अपनी माताजी की ओर से विरासत में मिले हैं। उन्होंने शूद्रों को कहीं छोटा नहीं समझा। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है, "धर्म ब्राह्मणों का है, बनियों का है, शूद्रों का नहीं, यह भ्रान्ति है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला है।" वे धर्म को सत्य की खोज, अपने स्वरूप की खोज, मानते हैं। जो सत्य का खोजी है, जो अपने को जानना चाहता है, उसके लिए न तो कोई बड़ा है, न छोटा। यही नहीं वे मानव के एकीकरण में विश्वास रखते हैं। उनकी दृष्टि समानता और समन्वय के तत्त्वों को ही देखती है; विषमता और विशृंखलता के तत्त्वों को नहीं। उन्होंने बार-बार कहा है, "धर्म-सम्प्रदायों में समन्वय के तत्त्व अधिक हैं। विरोधी तत्त्व कम।" इसीलिए उनके अणुव्रत-आन्दोलन में अजैन तो हैं ही, हिन्दू धर्म के बाहर के लोग भी हैं।

वर्तमान शताब्दी के महापुरुष

प्रो० एन० वी० वैद्य एम० ए०
फर्ग्यूसन कालेज, पूना

सद्बोधं विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हृत्स्वास्थ्यं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती।

महान् और सद्गुरु के मुख से निकले हुए वचन सद्ज्ञान प्रदान करते हैं, दुर्मति का हरण करते हैं, मिथ्या विश्वासों का नाश करते हैं, धार्मिक मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं, मोक्ष की आकांक्षा और पार्थिव जगत के प्रति विरक्ति पैदा करते हैं, राग-द्वेष आदि विकारों का नाश करते हैं, सच्ची राह पर चलने का साहस प्रदान करते हैं और गलत एवं भ्रामक मार्ग पर नहीं जाने देते। संक्षेप में, सद्गुरु क्या नहीं कर सकता?

दूसरे शब्दों में, सद्गुरु इस जीवन में और दूसरे जीवन में जो भी वास्तव में कल्याणकारी है, उस सबका उद्गम और मूल स्रोत है।[1]

शलाकापुरुष

इन पंक्तियों का असली रहस्य मैंने उस समय जाना, जब मैंने चार वर्ष पूर्व राजगृह में आचार्यश्री तुलसी का प्रवचन सुना। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो प्रथम दर्शन में ही मानस पर अतिक्रमणीय छाप डालते हैं। पूज्य आचार्यश्री सचमुच में ऐसे ही महापुरुष हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य को उनके चुम्बकीय आकर्षण और प्राणवान् व्यक्तित्व के कारण आसानी से युगप्रधान, वर्तमान शताब्दी का महापुरुष अथवा शलाकापुरुष

१. उत्तराध्ययन पर देवेन्द्र की टीका

(उच्चकोटि का पुरुष अथवा अति मानव) कहा जा सकता है। मेरा
अत्यन्त सद्भाग्य था कि मुझे उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला और
उस सम्पर्क की मधुर और उज्ज्वल स्मृतियों को हमेशा याद रखूँगा; क
सतां सद्भिः संग कथमपि हि पुण्येन भवति अर्थात् सत्संग किसी पुण्य से
प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है कि चार बातों का स्थायी महत्त्व है।
श्लोक इस प्रकार है :

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा सजमम्मि य वीरियं ॥ ३-१ ॥

अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए चार स्थायी महत्त्व की बातें प्राप्त कर
कठिन है। मनुष्य जन्म, धर्म का ज्ञान, उसके प्रति श्रद्धा और आत्म-संयम
सामर्थ्य।

उसी प्रकरण में आगे कहा गया है :

माणुस्स विग्गह लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा। ३-८ ॥

अर्थात् मनुष्य जन्म मिल जाने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है।
दुमपत्तय नामक दशम अध्ययन में भी इसी भावना को दोहराया गया है

अहीण पंचिन्दियत्त पि से लहे
उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा। १०-१८ ॥

यद्यपि मनुष्य पाँचों इन्द्रियों से सम्पन्न हो सकता है, किन्तु उत्तम धर्म क
शिक्षा मिलना दुर्लभ होता है।

इसलिए किसी व्यक्ति के लिए यह परम सौभाग्य का ही विषय हो सक
है कि उसे महान् गुरु अथवा सच्चे पथ-प्रदर्शक का सम्पर्क प्राप्त हो—ऐसे गु
का जो विश्वधर्म के सच्चे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हो। सबसे महत्त्व
पूर्ण बात यह है कि जो अपने उपदेश के अनुसार स्वयं आचरण भी करता हो
आचार्यश्री तुलसी के चुम्बकीय आकर्षण, सच्ची श्रद्धा और उनकी उच्च और प्र
विचारों का प्रभाव तत्काल ही मन पर पड़ता है। उनका दृष्टिकोण संकी
कट्टरतापूर्ण अथवा संकुचित साम्प्रदायिकता युक्त नहीं है। इसके विपरीत
अपने चारों ओर उदारता, व्यापकता और विशालता का वातावरण निर्मा
करते हैं। जब हजारों व्यक्ति ध्यान मग्न होकर उनका प्रवचन सुनते हैं

कम-से-कम थोड़े समय के लिए तो वे नित्य-प्रति की चिन्ताओं और भौतिक स्वार्थों के लिए होने वाले अपने अंतर्तरिक संघर्षों को भूल जाते हैं और संकुचित और दकियानूसी दृष्टिकोण को त्याग कर मानो किसी उच्च, भव्य और अलौकिक जगत में पहुंच जाते हैं।

बुराइयों की रामबाण औषधि

अणुव्रत-आन्दोलन जिसका पूज्य आचार्यश्री संचालन कर रहे हैं और जो प्रायः उनके जीवन का ध्येय ही है वास्तव में एक महान् वरदान है और वर्तमान युग को समस्त बुराइयों की रामबाण औषधि सिद्ध होगी। दुनिया में जो व्यक्ति लोगों के जीवन और भाग्य-विधाता बने हुए हैं, यदि वे इस महान् आन्दोलन पर गम्भीरता से विचार करें तो हमारे पृथ्वी-मण्डल का मुख ही एकदम बदल जाए और दुनिया में जो परस्पर आत्म-नाश की उन्मत्त और आवेशपूर्ण प्रतिस्पर्धा चल रही है, बन्द हो जाए। तब निरस्त्रीकरण, आणविक अस्त्रों के परीक्षण को रोकने और मानव-जाति के सम्पूर्ण विनाश के खतरे को टालने के लिए लम्बी-चौड़ी बेकार की बहसें करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। मनुष्य अपने को सृष्टि का मुकुट समझने में गर्व अनुभव करता है। किन्तु अकस्मात् ये उद्‌गार फूट पड़ते हैं 'मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना दिया है।'

अणुव्रत-आन्दोलन वास्तव में असाम्प्रदायिक आन्दोलन है और उसको हमारी धर्म निरपेक्ष सरकार का भी समर्थन मिलना चाहिए। यदि इस आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की नई पीढ़ी को शिक्षा दी जाए तो वे बहुत अच्छे नागरिक बन सकेंगे और वास्तव में विश्व नागरिक कहलाने के अधिकारी हो सकेंगे। राजनैतिक नेताओं की लम्बी-चौड़ी बातों के बजाय जो प्रायः कहते सुने हैं, और कहते सुने हैं, इस प्रकार का आन्दोलन राष्ट्रीय एकता के ध्येय को अधिक शीघ्रतापूर्वक सिद्ध कर सकेगा।

●

तरुण तपस्वी आचार्यश्री तुलसी

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया, एम० ए

जिनको हम इतनी निकटता से जानते हैं, उनके बारे में कुछ कहना उत
ही कठिन है, जितना प्रगुप्त प्रज्ञा के द्वारा शक्ति को सीमा-बद्ध करना।
आचार्यश्री तुलसी को बचपन से जानती हूँ। कई बार सोचा भी था कि
सुविधा से उनके बारे में अपनी अनुभूतियाँ लिखूँ, पर ऐसा कर नहीं पाई
उनके व्यक्तित्व को जितनी निकटता से देखा, उतना ही निखरा हुआ पाया
उस जमाने में वे इतने विख्यात न थे, किन्तु विलक्षण अवश्य थे। उनकी
तपश्चर्या, मन और शरीर की अद्भुत शक्ति और आध्यात्मिकता के तत्त्वांकुर
गुरु की दिव्य दृष्टि से छिप न सके और वे इस जैन संघ के उत्तराधिकारी चुन
लिये गए। इन्होंने प्राचीन मर्यादाओं की रक्षा करते हुए, सम्पूर्ण व्यवस्था को
मौलिकता का एक नया रूप दिया। सारे संघ को बल-बुद्धि और शक्ति को
इकट्ठा कर तपश्चर्या और आत्म-शुद्धि का सुगम मार्ग बतलाते हुए, संकीर्णता
के बन्धनों को काटते हुए, शान्ति-स्थापना के संकल्प से आगे बढ़े। जन-समूह
ने इनका स्वागत किया और तब इनका सेवा-क्षेत्र द्रौपदी के चीर की तरह
विस्तृत हो गया। आचार्यश्री तुलसी ने धार्मिक इतिहास की परम्पराओं पर ही
बल नहीं दिया, बल्कि व्यक्ति और समय की आवश्यकताओं को समझ उसके
अनुरूप ही अपने उपदेशों को मोड़ा। संघ के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य
का निर्वाह करते हुए साम्प्रदायिक भेदों को हटाने का भगीरथ प्रयत्न किया।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यवहार की मूल
भित्ति मानने वाले इस संघ के सूत्रधार के उपदेशों से जनता आश्वस्त हुई।
आज के विश्व की इस विषम परिस्थिति में, जब सेवा का स्थान स्वार्थ ने,
विश्वास का सन्देह ने, स्नेह और श्रद्धा का स्थान घृणा ने ले लिया है, तब
इन्होंने भगवान् महावीर की अहिंसा-नीति का हर व्यक्ति में समन्वय करते हुए
नये दृष्टिकोण से एक नई पृष्ठभूमि तैयार की।

मानव को देव नहीं, मानव बनाने का इनका गम्भीर प्रयत्न, बिना किसी फल और कीर्ति की आकांक्षा के निरन्तर चलता है। इनको अपने जीवन अथवा सेवा के लिए कोई आर्थिक साधन नही जुटाने पड़ते। बिना किसी प्रतिद्वन्द्विता की भावना से प्रभावित हुए अपने कार्यों को रचनात्मक रूप देते रहते हैं। पद और प्रशंसा की भावना से उपराम होकर ये मानव की असहिष्णु हृदय भूमि को नैतिक हल से जोतते हैं। प्रेम और धर्म के बीजों को बोते हैं। शास्त्रों के निचुड़े हुए अर्क से उन्हें सींचते हैं। क्षेत्रज्ञ की तरह उसकी रखवाली करते हैं, यही उनके अस्तित्व और सफलता की कुंजी है। यही इस पथ का गुह्यतम इतिवृत्त है कि इतने थोड़े काल में विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती बेला मे भी समाज मे इन्होने अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

नगरों और ग्रामों मे घूम कर, छाया, पानी, शीत, आतप आदि यातनाएँ सहन कर लोक-कल्याण करते हैं। जीवन की सफलता के अचूक मन्त्र इस अणुव्रत को इस महिमा के देवदूत ने एक सरल जामा पहना कर लोगों के सामने रखा। सुगन्धित द्रव्यों के धूम्रसमूह सा यह अनन्त आसमान में उठा और इहलोक और परलोक के द्वार पर प्रकाश डाला।

जब आचार्यश्री पद्मासन की तरह एक सुगम आसन मे बैठते हैं तो उनके पारदर्शी ज्योति-विस्फारित नेत्रों से विशद आनन्द और नीरव शान्ति का स्रोत बहता है। उनकी वाणी मे मिठास, मार्मिकता और सहज ज्ञान का एक प्रवाह-सा रहता है, जिसे सर्व-साधारण भी सहज ही ग्रहण कर सकता है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए इनके पास पर्याप्त सामग्री है।

मैं इतना कुछ जानते हुए भी इस धर्म के गूढ़ तत्त्वों को आज तक हृदयंगम नहीं कर सकी हूँ, क्योंकि इन्होंने अपने आपको इतना विशाल बना लिया है कि इनको जान लेना ही इनके आदर्शों को सटीक समझ लेना है, क्योंकि ये ही इनकी सत्यता के साकार प्रतीक हैं। वैसे तो सारे ही धर्म-पथ बड़े कठिन और ऊबड़-खाबड़ हैं, परन्तु इस पथ के पथिक तो खाँडे की तीखी धार पर ही चलते हैं। गुरु के प्रति शिष्यों का पूर्ण आत्म-समर्पण और उनके व्यक्तित्व; इस तरुण तपस्वी के आदेशों में इस तरह समा जाते हैं, जैसे बृहत् साम का स्तुति-पाठ छन्द में समा जाता है।

त्याग की वेदी पर कर्मों का होम करने के बाद भी ये बड़े कर्मठ हैं।

महामानव तुलसी

प्रो० मूलचन्द सेठिया, एम० ए०
बिरला आर्ट्स कालेज, पिलानी

आचार्यश्री तुलसी का नाम भारत में नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का एक प्रतीक बन गया है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन अन्धकार में दीप-शिखा की तरह सबका ध्यान आकृष्ट कर रहा है। एक मुग्ध विस्मय के साथ युग देख रहा है कि एक सम्प्रदाय के आचार्य में इतनी व्यापक संवेदनशीलता, दूरदर्शिता और अपने सम्प्रदाय की परिधि से ऊपर उठ कर जन-जीवन की नैतिक-समस्याओं से उलझने और उन्हें सुलझाने की प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हुई? आचार्यश्री तुलसी को निकट से देखने वाले यह जानते हैं कि इसका रहस्य उनकी महामानवता में छिपा है। मानवीय संवेदना से प्रेरित होकर ही उन्होंने अनैतिकता के विरुद्ध अणुव्रत-आन्दोलन आरम्भ किया। आज के युग में, जब कि प्रत्येक वर्ग एक-दूसरे को भ्रष्टाचार के लिए उत्तरदायी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है और स्वयं अपने को निर्दोष घोषित करता है, आचार्यश्री तुलसी अपने निर्लेप व्यक्तित्व के कारण ही यह अनुभव कर सके कि भ्रष्टाचार एक वर्ग-विशेष की समस्या न होकर निखिल मानव-समाज की समस्या है। जितनी व्यापक समस्या हो, उसका समाधान भी उतना ही मूलग्राही होना चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने इस मानवीय समस्या का मानवीय समाधान ही प्रस्तुत किया है। उनका सन्देश है कि जन-जीवन के व्यापक क्षेत्र में, जो व्यक्ति जहां पर खड़ा है, वह अपने बिन्दु के केन्द्र से वृत्त बनाते हुए समाज के अधिकाधिक भाग को परिपुष्ट करने का प्रयत्न करे। यही कारण है कि जब अन्यान्य विचारक विवाद और वितर्क के द्वारा प्याज के छिलके उतारते ही रह गये, आचार्यश्री तुलसी अपनी दृढ़ निष्ठा और अपार मानवीय संवेदना के सम्बन्ध को लेकर भ्रष्टाचार

की समस्या के व्यावहारिक समाधान में संलग्न हो गये।

पवित्रता का वृत्त

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी समस्या को उसके व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा और सुलझाया जा सकता है; परन्तु जब तक सामाजिक वातावरण में परिवर्तन नहीं हो, तब तक हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहना भी तो एक प्रकार की पराजित मनोवृत्ति का परिचायक है। जो समाज-तन्त्र की भाषा में सोचते हैं, वे बड़े-बड़े आँकड़ों के माया-जाल में उलझे हुए निकट भविष्य में ही किसी चमत्कार के घटित होने की आशा में निश्चेष्ट बैठे रहते हैं, परन्तु जो मानव को व्यक्ति रूप में जानते हैं और नित्यप्रति सैकड़ों व्यक्तियों के सजीव सम्पर्क में आते हैं, उनके लिए कार्य-क्षेत्र सदैव खुला रहता है। आचार्यश्री तुलसी के लिए व्यक्ति समाज की एक इकाई नहीं; प्रत्युत समाज ही व्यक्तियों की समष्टि है। वे समाज से होकर व्यक्ति के पास नहीं पहुँचते, वरन् व्यक्ति से होकर समाज के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। समाज तो एक कल्पना है, जिसकी सत्यता व्यक्तियों की समष्टि पर निर्भर है, परन्तु व्यक्ति अपने-आप में ही सत्य है, हालाँकि उसकी सार्थकता समाज की मुखापेक्षिणी होती है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन इसी व्यक्ति को लेकर चलता है, समाज तो उसका दूरगामी लक्ष्य है। वे व्यक्ति को सुधार कर समाज के सुधार को चरम परिणति के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं, समाज के सुधार को अनिवार्य परिणति व्यक्ति का सुधार नहीं मानते। इसलिए उनका प्रयत्न अपने प्रारम्भिक रूप में कुछ स्वल्प-सा, नगण्य-सा प्रतीत हो सकता है परन्तु उसमें महान् सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। कुछ निष्ठावान व्यक्ति समाज में एक ऐसा पवित्रता का वृत्त तो खड़ा हो सकते हैं, जो उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए कभी सम्पूर्ण समाज को अपने घेरे के अन्दर ले सकता है। खेद है कि अणुव्रत-आन्दोलन की इस महती सम्भावना की ओर विचारकों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ है।

मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक

[illegible] वर्षों के जीवन-काल में आचार्यश्री तुलसी ने अपने अणुव्रत-

आन्दोलन को एक नैतिक शक्ति का रूप प्रदान कर दिया है। इस आन्दोलन का मूलाधार कोई राजनैतिक या आर्थिक संगठन नहीं, बल्कि आचार्यश्री तुलसी का महान् मानवीय व्यक्तित्व ही है। एक सम्प्रदाय के मान्य आचार्य होते हुए भी आचार्यप्रवर ने अपने व्यक्तित्व को साम्प्रदायिक से अधिक मानवीय ही बनाये रखा है। आचार्यप्रवर अणुव्रतियों के लिए केवल संघ-प्रमुख ही नहीं, उनके मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक (Friend, Philosopher and Guide) भी हैं। वे अपने जीवन की कठिनाइयों, उलझनों और सुख-दुख की सैकड़ों बातें आचार्यश्री तुलसी के सम्मुख रखते हैं और उनको अपने संघ-प्रमुख द्वारा जो समाधान प्राप्त होता है, वह उनकी सामयिक समस्याओं को सुलझाने के साथ ही उन्हें वह नैतिक बल भी प्रदान करता है जो अन्ततः आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करता है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि में 'हल है हलकापन जीवन का'। आचार्यप्रवर मनुष्य के जीवन को भौतिकता के भार से हलका देखना चाहते हैं, उसके मन को राग-विराग के भार से हलका देखना चाहते हैं और अन्ततः उसकी आत्मा को कर्मों के भार से हलका देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि ध्रुव-तारे की तरह इसी जीव-मुक्ति की ओर लगी हुई है; परन्तु वे लघु मानव की अंगुली पकड़ कर धीरे-धीरे उस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाना चाहते हैं। मेरी दृष्टि में आचार्यश्री तुलसी आज भी समाज सुधारक नहीं, एक आत्म-साधक ही हैं और उनका समाज सुधार का लक्ष्य आत्म-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण करना ही है।

आज के युग में जबकि प्रत्येक व्यक्ति पर कोई-न-कोई 'लेबल' लगा हुआ है और दलों के दलदल में धँसे हुए मानवता के पैर मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं, किसी व्यक्ति में मानव का हृदय और मानवता का प्रकाश देखकर चित्त में आह्लाद का अनुभव होता है। हमारा यह आह्लाद आश्चर्य में बदल जाता है, जब कि हम यह अनुभव करते हैं कि एक बृहत् एवं गौरवशाली सम्प्रदाय के आचार्य होने पर भी उनकी निर्विशेष मानवता आज भी अक्षुण्ण है। निस्सदेह आचार्यश्री तुलसी एक महान् साधक हैं, सहस्रों साधकों के एकमात्र मार्ग-निर्देशक हैं। एक धर्म संघ के व्यवस्थापक हैं और एक नैतिक आन्दोलन के प्रवर्तक हैं; परन्तु और कुछ भी होने के पूर्व वे एक महामानव हैं। वे एक महान् संत और महान् आचार्य भी इसीलिए बन सके हैं कि उनमें मानवता का जो मूल द्रव्य है, वह कसौटी पर कसे हुए सोने के समान शुद्ध है।

तीर्थंकरों के समय का दर्शन

डा० हीरालाल चोपड़ा, एम० ए०, डी० लिट्

रजिस्ट्रार, कलकत्ता विश्वविद्यालय

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व से, भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के समय से अहिंसा के सिद्धान्त का निरन्तर प्रचार किया जा रहा है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा की भावना को जिस रूप में हमारे सामने रखा है, वह अभूतपूर्व ही है। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम मनुष्यों अथवा पशुओं की भावना को आघात न पहुंचाएं, अपितु जीवन का वह एक विधायक मूल्य है। यह मन, वचन व कर्म से सब प्रकार की हिंसा का निषेध करता है और समस्त चेतन और अचेतन प्राणियों पर लागू होता है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने आचार्यत्व काल में अहिंसा की सच्ची भावना को, केवल उसके शब्द को ही नहीं, अपितु क्रियात्मक रूप से अपनाने पर बल दिया है।

अहिंसा जीवन का नकारात्मक मूल्य नहीं है। गांधीजी और आचार्यश्री तुलसी ने बीसवीं शताब्दी में उसको विधायक और नियमित रूप दिया है और उसमें गहरा दर्शन भर दिया है। यह आज की दुनिया की सभी बुराइयों की रामबाण औषधि है।

दुनिया आज विज्ञान के क्षेत्र में तीव्र प्रगति कर रही है और सभ्यता की कसौटी यह है कि मनुष्य आकाश में अथवा ब्रह्माण्ड में उड़ सके, चन्द्रमा तक पहुँच सके, अथवा समुद्र के नीचे यात्रा कर सके, किन्तु दयनीय बात यह है कि मनुष्य ने अपने वास्तविक जीवन का आशय भुला दिया। उसे इस पृथ्वी तल पर रहना है और अपने सहवासी मानवों के साथ मिल-जुलकर और समरस होकर रहना है। गांधीजी ने जीवन का यही ठोस गुण सिखाया था और आचार्यश्री तुलसी ने भी जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण से इसी प्रकार

क्रान्ति ला दी है। पुरातन जैन परम्परा में लालन होने पर भी उन्होंने जैन-धर्म को आधुनिक, उदार और क्रान्तिकारी रूप दिया है, जिससे कि हमारी आज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अथवा यों कह सकते हैं कि उन्होंने जैन धर्म के असली स्वर्ण से सब मैल हटा दिया है और उसे अपने उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है जैसा कि वह तीर्थंकरों के समय में था।

प्रेम सत्य और अहिंसा में हमको उस समय विरोधाभास दिखाई देता है, जब हम उनके एक साथ अस्तित्व की कल्पना करते हैं, किन्तु वे वास्तविक जीवन में विद्यमान हैं और जीवन के उस दर्शन में भी हैं, जिसका प्रतिपादन आचार्यश्री तुलसी ने किया है। यद्यपि यह असंगत प्रतीत होगा, किन्तु यह एक तथ्य है कि विज्ञान और सभ्यता के जो भी दावे हों, मनुष्य तभी प्रगति कर सकता है, जब वह आध्यात्मिकता को अपनाएगा और अपने जीवन को प्रेम, सत्य और अहिंसा की त्रिवेणी में प्लावित करेगा।

जब इस प्रकार के जीवन को बदल डालने वाले व्यावहारिक दर्शन का न केवल प्रतिपादन किया जाता है प्रत्युत उसे दैनिक जीवन में कार्यान्वित किया जाता है तो बाहर और भीतर से विरोध होता ही है। अणुव्रत ऐसा ही दर्शन है, किन्तु उसके सिद्धान्तों में दृढ़ निष्ठा इस पथ पर चलने वाले व्यक्ति को बदल देगी।

अणुव्रत आत्म-शुद्धि और आत्म-उन्नति की प्रक्रिया है। उसके द्वारा व्यक्ति की समस्त विसंगतियां लुप्त हो जाती हैं और वह उस पार्थिव उथल-पुथल में से अधिक शुद्ध, श्रेष्ठ और शान्त बन कर निकलता है और जीवन के पथ का सच्चा यात्री बनता है।

आचार्यश्री तुलसी अपने उद्देश्य में सफल हों, जिन्होंने अणुव्रत के रूप में व्यावहारिक जीवन का मार्ग बतलाया है।

●

इस युग के महान् अशोक

श्री के० एस० धरणेन्द्रय्या

निर्देशक, साहित्यिक व सांस्कृतिक संस्थान, मैसूर राज्य

आचार्यश्री तुलसी एक महान् पण्डित तथा बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं। लौकिक बुद्धि के साथ-साथ उनमें महान् आध्यात्मिक गुणों का समावेश है। आध्यात्मिक शक्ति से वे सम्पन्न हैं, जिसका न केवल आत्म-शुद्धि के लिए बल्कि मानव-जाति की सेवा के लिए भी वह पूरा उपयोग करते हैं।

मानव-जाति की आवश्यकताओं का उन्हें भान है। लोगों के अज्ञान और उनकी शिक्षा-हीनता को दूर करने में वे विश्वास करते हैं। अपने अनुयायियों में, जिनमें साधु और साध्वियाँ दोनों हैं, शिक्षा-प्रचार को वे खूब प्रोत्साहन देते रहे हैं। वे एक जन्मजात शिक्षक हैं और ज्ञान की खोज में आने वाले सभी की शिक्षा में वे बहुत रुचि लेते हैं।

उनका दृष्टिकोण आधुनिक है। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों का उन्होंने अध्ययन किया है। यही नहीं बल्कि आधुनिक विज्ञान, राजनीतिक तथा समाजशास्त्र में भी उनकी बड़ी दिलचस्पी है।

लोगों में व्याप्त नैतिक अधःपतन को देख कर उन्होंने सारे राष्ट्र में पुनीत अणुव्रत-आन्दोलन शुरू किया है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतिपादन में उनका उत्साह सराहनीय है। महान् अशोक से उनकी तुलना की जा सकती है, जिसने अहिंसा के सिद्धान्त की शिक्षा और उसके प्रसार के लिए अपने दूतों को सुदूर देशों में भेजा था। सर्वोदय नेता के रूप में महात्मा गांधी से भी उनकी तुलना की जा सकती है।

उनका व्यक्तित्व आकर्षक है और उससे आध्यात्मिक प्रकाश तथा अन्तर्ज्योति का तेज प्रस्फुटित होता है। लोग उन्हें पसन्द करते हैं और शान्ति प्राप्त करने के लिए उसी तरह उनके पास आते हैं जैसे ईसामसीह के पास आते थे।

भगवान् बुद्ध की तरह उन्होंने ऐसे निःस्वार्थ और उत्साही अनुयायियों का दल तैयार किया है जो मनुष्य-जाति की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित करने के लिए कटिबद्ध है। वे सभी विशिष्ट विद्वान् और निष्कलंक चरित्र वाले व्यक्ति हैं।

आचार्यश्री तुलसी अभी सैंतालीस वर्ष के ही हैं, किन्तु उन्होंने सेवा और आत्म-त्याग के द्वारा त्याग और बलिदान का अनुपम उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

आचार्यश्री तुलसी के प्रति मैं बड़ी विनम्रता से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति

श्री टी० एन० वेंकट रमन
अध्यक्ष, श्री रमण आश्रम

भारतवासी कितने गौरवान्वित हैं कि आचार्यश्री तुलसी ने नैतिक व आध्यात्मिक अभिसिंचन के लिए देश में अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया है।

भारत वैदिक और उपनिषदीय गाथाओं का देश है, किन्तु उसे राजनैतिक पराधीनता से मुक्त होने के पश्चात् अब इस अणुव्रत आन्दोलन की आवश्यकता है। देश ने यह स्वतन्त्रता अहिंसा के अस्त्र द्वारा प्राप्त की और इस अस्त्र का प्रयोग करने वाले महात्मा गांधी थे। गांधीजी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और जीवन में उनका एक-मात्र ध्येय सत्य की नौका खेना था और उनकी एक-मात्र इच्छा थी कि असत्य पर सत्य की जय हो।

आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी

देश को स्वतन्त्र हुए सोलह वर्ष हो गए। इस अवधि में देश का राजनैतिक एकीकरण हुआ और राष्ट्रनिर्माण की बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ शुरू हुई। इसका प्रकट प्रमाण है—औद्योगिक क्रान्ति और सामाजिक पुनर्गठन। उससे हमारा राष्ट्र क्रमशः बलवान् होगा और अन्य पूर्वी और पाश्चात्य देशों के साथ-साथ विश्व-कल्याण के लिए नेतृत्व कर सकेगा। पश्चिमी देश भारत के इस नेतृत्व को स्वीकार करने के लिए उद्यत हैं। केवल इसलिए नहीं कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की कीर्ति चारों ओर फैल गई है प्रत्युत इसलिए भी कि भारत अत्यन्त प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी है। किन्तु यदि हमारे राष्ट्र को दूसरे देशों को आध्यात्मिक मूल्य सुलभ करने की आकांक्षा की पूर्ति करना हो तो उसे आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस आत्म-निरीक्षण

की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि नैतिक पतन का संकट भी इस समय राष्ट्र पर मंडरा रहा है, चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों को भुला देने की बात तो दूर रही, वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता के होते हुए, महात्मा गांधी की महान नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति के उठ जाने के पश्चात् भारतीय सामूहिक रूप में पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं और अपने समस्त उच्च आदर्शों को भुलाते जा रहे हैं। इसलिए अणुव्रत जैसे आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्र को आचार्यश्री तुलसी और उनके सैकड़ों साधु-साध्वियों के दल के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जो इस आन्दोलन को चला रहे हैं।

हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है कि इस आन्दोलन का आरम्भ हुए यद्यपि दस-बारह वर्ष ही हुए हैं, किन्तु वह इतना शक्तिशाली हो गया है कि हमारे राष्ट्र के जीवन में एक महान् नैतिक शक्ति बन गया है। हम इस आन्दोलन को भगवान् श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति मानते हैं। उन्होंने भगवद् गीता के चौथे अध्याय के आठवें श्लोक में कहा है कि धर्म की रक्षा करना उनका मुख्य कार्य है और वह स्वयं समय-समय पर नाना रूपों में अवतार धारण करते हैं।

साधन चतुष्टय की प्राप्ति में सहयोगी

हमारे देश के नवयुवक हमारे संतों और महात्माओं के जीवन चरित्रों और धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शाश्वत सुख जैसी कोई वस्तु है और उसे इसी लोक और जीवन में प्राप्त किया जाना चाहिए। हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं—'तुम अनुभव करो अथवा नहीं, तुम आत्मा हो।' उसका साक्षात्कार करने में जितना बड़ा लाभ है, उतनी ही बड़ी हानि उसे प्राप्त न करने में है। इसलिए वे आत्म साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह आत्मा है क्या और उसे कैसे प्राप्त किया जाए? यही उनकी समस्या बन जाती है। वे आत्म-ज्ञान का फल तो चाहते हैं, किन्तु उसका मूल्य नहीं चुकाना चाहते। वे साधन चतुष्टय (साधना के चार प्रकार) की उपेक्षा करते हैं, जिसके द्वारा ही आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन साधन चतुष्टय की प्राप्ति में बड़ा सहायक होगा और आत्म-

साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करेगा।

आत्म-साक्षात्कार जीवन का मूल लक्ष्य है; जैसा कि श्री शंकराचार्य कहा है और जैसा कि हम भगवान् श्री रमण महर्षि के जीवन में देखते हैं भगवान् श्री रमण ने अपने जीवन में और उसके द्वारा यह बताया है कि आत्म का वास्तविक आनन्द देहात्म-भाव का परित्याग करने से ही मिल सकता है यह विचार छूटना चाहिए कि मैं यह देह हूं। 'मैं देह नहीं हूं' इस का अ होता है—मैं न स्थूल हूं, न सूक्ष्म हूं और न आकस्मिक हूं। 'मैं आत्मा हूं' का अर्थ होता है मैं साक्षात् चैतन्य हूं, तुरीय हूं, जिसे जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव स्पर्श नहीं करते। यह 'साक्षी चैतन्य' अथवा 'जीव साक्षी' सदा सर्व साक्षी' के साथ संयुक्त है जो पर, शिव और गुरु है। अतः यदि मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान ले तो फिर उसके लिए कोई अन्य नहीं रह जाता, जिसे वह धोखा दे सके अथवा हानि पहुंचा सके। उस दशा में सब एक हो जाते हैं। इसी दशा का भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार वर्णन किया है—'ऐ गुडाकेश, मैं आत्मा हूं जो हर प्राणी के हृदय में निवास करता हूं; मैं सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूं।' आचार-सेवन के महाव्रत द्वारा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अहंकार-शून्य अवस्था अथवा अहं ब्रह्मास्मि की दशा प्राप्त होती है। महाव्रत के पालन के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रतिपादित अणुव्रत प्रथम चरण होंगे।

आचार्यश्री तुलसी ने नैतिक जागृति की भूमिका में ठीक ही लिखा है, "मनुष्य बुरा काम करता है। फलस्वरूप उसके मन को अशान्ति होती है। अशान्ति का निवारण करने के लिए वह धर्म की शरण लेता है। देवता के आगे गिड़गिड़ाता है। फलस्वरूप उसे कुछ सुख मिलता है, कुछ मानसिक शान्ति मिलती है। किन्तु पुनः उसकी प्रवृत्ति गलत मार्ग पकड़ती है और पुनः अशान्ति उत्पन्न होती है और पुनः धर्म की शरण जाता है।" अगत्य में धर्म और धार्मिक अभ्यास निर्वाण के लिए है। जब मनुष्य एकदम निरावरण होता है, वह सुख और दुःख से ऊपर उठ सकता है और सुख एवं दुःख को समभाव से अनुभव कर सकता है। यही कारण है कि विष्णु सहस्रनाम में निर्वाणम् सुखम् आदि नाम गिनाये हैं। निर्वाण हमारे सब रोगों की औषध है और जब वह प्राप्त हो जाए तो वही सच्चा सुख है—सर्वोच्च आनन्द है।

निषेध विधि से प्रभावक

आपका आदर्श ज्ञान-योग, भक्ति-योग अथवा कर्म-योग कुछ भी हो, अपने अहम् को मारना होगा, मिटाना होगा। एक बार यह अनुभूति हो जाए कि आपका अहम् मिट गया, केवल चिद्भास शेष रह गया है, जो अपना जीवन और प्रकाश पारमार्थिक से प्राप्त करता है। पारमार्थिक और ईश्वर एक ही हैं, तब आपका अस्तित्वहीन अहम् के प्रति प्रेम अपने-आप नष्ट हो जाएगा। भगवान् श्री रमण महर्षि के समान सब महात्मा यही कहते हैं। इसलिए हम सब अणुव्रतों का पालन करें, जिनके बिना न तो भौतिक और न आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। अणुव्रत की निषेधात्मक प्रतिज्ञाएँ विधायक प्रतिज्ञाओं से अधिक प्रभावकारी हैं और वे न केवल धर्म और आध्यात्मिक साधना के प्रेमियों के लिए प्रत्युत सभी मानवता के प्रेमियों के लिए पूरी नैतिक आचार संहिता बन सकती हैं।

भगवान् को अणोरणीयान् महतो महीयान् कहा है। आत्मा हृदय के अन्तरतम में सदा जागृत और प्रकाशमान रहता है, इसलिए वह मनुष्य के हाथ-पाँव की अपेक्षा अधिक निकट है और यदि मानवता इस बात को सदा ध्यान में रखे तो मानव अपने सह-मानवों को धोखा नहीं दे सकता और हानि नहीं पहुँचा सकता। यदि वह ऐसा करता है तो स्वयं अपनी आत्मा को ही धोखा देगा अथवा हानि पहुँचाएगा, जो उसे इतना प्रिय होता है।

○

बीसवीं सदी के महापुरुष

महामहिम मार अथनेशियस जे० एस० विलियम्स,
एम० ए०, डी० डी०, सी० टी०, एम० आर० एस० टी० (इंगलैंड)
बम्बई के आर्च बिशप एवं प्राइमेट, आजाद हिन्द चर्च

संसार में हजारों धार्मिक नेता हो चुके हैं और पैदा होंगे। परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने लोगों के हृदय परिवर्तित किये हैं, संसार में प्रेम और शान्ति के स्रोत बहाये हैं और लोगों के दिलों को इसी दुनिया में स्वर्गीय आनन्द से सराबोर करने के अमूल्य प्रयत्न किये हैं। बीसवीं सदी में हमारी इन आँखों ने भी एक ऐसे ही महापुरुष आचार्यश्री तुलसी को देखा है।

यही वह व्यक्ति है जिसके पवित्र जीवन में जैनी भगवान् श्री महावीर को देखते हैं और बौद्ध भगवान् बुद्ध को देखते हैं। हम जो महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के अनुयायी हैं यीशू ख्रीष्ट की ज्योति भी उनमें देखते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के उस कथन को अपने वैरियों से भी प्रेम करो, को इतना सुन्दर रूप दिया है कि विरोध को विनोद समझ कर किसी की ओर से मन में मैल न आने दो।

चर्च से बिदाई

पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नहीं है जो आचार्यश्री तुलसी को प्यारा न हो। हमें वह दिन याद है, जब आचार्यप्रवर बम्बई की बेलासिस रोड पर 'आजाद हिन्द चर्च' में पधारे थे। अपने अनुयायियों के साथ मिल कर उन्होंने भजन सुनाये थे और भाषण दिया था। चर्च में आशीर्वाद देकर अपने साधु और साध्वियों को भारत के कोने-कोने में नैतिकता और धर्म-प्रसार के लिए बिदा किया था। इस दृश्य को देख कर बम्बई में हजारों व्यक्तियों को यह आश्चर्य होता था कि जैन साधु ईसाइयों के चर्च में कैसे आ जा रहे हैं। केवल तो आचार्यश्री ही की महिमा थी जो ईसाइयों का गिरजाघर भी हिन्दू

भाइयों के लिए पवित्र-स्थान और धर्म-स्थान बन गया था।

जीवन में एक बड़ी क्रान्ति

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रसार कर आचार्यश्री ने जनता के जीवन में एक बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी है। यह हमारा सौभाग्य है कि आज भारत के कोने-कोने में सत्य और प्रेम का प्रसार हो रहा है। जनता जनार्दन अपने साधारण जीवन में ईमानदारी का व्यवहार कर रही है। सरकारी कर्मचारी भी अपने कर्तव्य को ईमानदारी से पूरा करने का उपदेश ले रहे हैं। व्यापारी वर्ग से धोखेबाजी और चोरबाजारी दूर होती जा रही है। केवल भारतीय ही नहीं, दूसरे देश भी आचार्यश्री के उच्च विचारों से प्रभावित हो रहे हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी अणुव्रत-आन्दोलन का एक साधारण सदस्य हूँ और मुझे देश-देश की यात्रा करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। जब यूरोप और रूस की कड़कती ठंडक में भी मैंने चाय और कॉफी तक को हाथ नहीं लगाया तो वहाँ के लोगों को आश्चर्य होता था कि यह कैसे सम्भव है? किन्तु यह केवल आचार्यश्री के उन शब्दों का चमत्कार है जो आपने सन् १९५४ के नवम्बर महीने के प्रारम्भ में बम्बई में कहे थे—फादर साहब, आप शराब तो नहीं पीते हैं?

आचार्यश्री के साथ सैकड़ों साधु और साध्वी जन-सेवा में अपना जीवन बलिदान कर रहे हैं। इन तेरापंथी जैनी साधुओं जैसा त्याग, तप और सेवा हमारे देश और मानव समाज के लिए बड़े गौरव की बात है। आचार्यश्री के शिष्य और वे लोग भी जो आपके सम्पर्क में आ चुके हैं, अपने आचार-विचार से मनुष्य जाति की अनमोल सेवा कर रहे हैं।

आचार्यश्री ने हर जाति के और धर्म के लोगों को ऐसा प्रभावित किया है कि आपके आदर्श कभी भुलाये नहीं जा सकते और वे सदा ही मनुष्य-जाति को जीवन ज्योति दिखाते रहेंगे।

आचार्यश्री तुलसी का एक सूत्र

आचार्य धर्मेन्द्र

तीन वर्ष पूर्व सन् १६५८ में आचार्यश्री तुलसी आगरा जाते हुए ज
पधारे। उस समय उनके प्रवचन सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हु
आचार्यश्री जिस तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, उसे उद्भव-काल से
स्वकीय समाज में अनेक विरोधों और भेदों का सामना करना पड़ा। किसी
सम्प्रदाय में जब नई शाखा का प्रसव होता है तो उसके साथ ही वैर और विरो
का अवसर भी आता ही है। पूर्व समाज नये समाज को पुरातन लीक से हटा
वाला और अधार्मिक बताता है और नया समाज पहले समाज की व्यवस्था क
सड़ी-गली और नये जमाने के लिए अनुपयुक्त बताता है। बाद में दोनों ए
दूसरे को अनिवार्य मान कर साथ रहना सीख जाते हैं और विरोध का स
उतना मुखर नहीं रह जाता, लेकिन मौन द्वेष की गाँठ पड़ी ही रह जाती है
आचार्यश्री के जयपुर-आगमन के अवसर पर कहीं-कहीं उस पुरानी गाँठ
पूँजी खुल खुल पड़ती। विरोधी जितना निन्दा-प्रचार करते, उससे अधि
प्रशंसक उनकी जय-जयकार करते।

सम्पन्न लोगों की दुरभिसन्धि

इस सब निन्दा-स्तुति में कितना पूर्वाग्रह और कितना वस्तु विरोध है, इ
उत्सुकता से मैं भी एक दिन आचार्यश्री का प्रवचन सुनने के लिए पण्डाल में चल
गया। पण्डाल मेरे निवासस्थान के पिछवाड़े ही बनाया गया था। आचार्यश्र
का व्याख्यान त्याग की महत्ता और साधुओं के आचार पर हो रह
था: "... किसी धनिक ने साधु-सेवा के लिए एक चातुर्मास विहार बनवाय
जिसे साधुओं को दिखा-दिखा कर वह बता रहा था कि यहाँ महाराज के वस्त्र
रहेंगे, यहाँ पुस्तकें, यहाँ भोजन के पात्र और यहाँ यह, यहाँ वह। साधु ने
देखभाल कर कहा कि एक पाँच खानों की अलमारी हमारे पद-महाव्रतों के

लिए भी तो बनवाई होती, जहाँ कभी-कभी उन्हें भी उतार कर रखा जा सकता।" आचार्यश्री के कहने का मतलब था कि साधु के लिए परिग्रह का प्रपंच नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह उसमें लिप्त होकर उद्देश्य ही भूल जाएगा।

मैं जिस पण्डाल में बैठा था, उसे श्रद्धालु श्रावकों ने रुचि से सजाया था। श्रावक-समाज के वैभव का प्रदर्शन उसमे अभिप्रेत न रहने पर भी होता अवश्य था। निरन्तर परिग्रह की उपासना करने वालों का अपने अपरिग्रही साधुओं का प्रदर्शन करना और दाद देना मुझे खासा पाखण्ड लगने लगा। आचार्यश्री जितना-जितना अपरिग्रह की मर्यादा का व्याख्यान करते गए, उतना-उतना मुझे वह सम्पन्न लोगों की दुरभिसन्धि मालूम होने लगा। हमारा परिग्रह मत देखो, हमारे साधुओं को देखो! अहो! प्रभावस्तावसाम! अगले दिन के लिए भोजन तक सचय नहीं करते। वस्त्र जो कुछ नितान्त आवश्यक हैं, वह ही अपने शरीर पर धारण करके चलते हैं। ये उपवास, यह ब्रह्मचर्य, ये अदृश्य जीवों को हिंसा से बचाने के लिए बाँधे गए मुँछीके, यह तपस्या और यह अणुबम का जवाब अणुव्रत! मुझे लगा कि अपने सम्प्रदाय के सेठों को लिप्सा और परिग्रह पर पर्दा डालने के लिए साधुओं की यह सारी चेष्टा है, जिसका पुरस्कार अनुयायियों के द्वारा जय-जयकार के रूप में दिया जा रहा है। जब और नहीं रहा गया तो मैंने वहीं बैठे-बैठे एक पत्र लिख कर आचार्यश्री को भिजवा दिया, जिसमें ऐसा ही कुछ बुखार उतारा गया था।

अश्रद्धा और हठ का भाव

आचार्यश्री से जब मैं अगले दिन प्रत्यक्ष मिला, तब तक अश्रद्धा और हठ का भाव मेरे मन पर से उतरा नहीं था। आचार्यश्री अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक कहे जाते हैं, इस पर अनेक इतर जैन-सम्प्रदायों को ऐतराज रहा है। "अणुव्रत तो बहुत पहले से चले आते हैं। साधुओं के लिए अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि पंच व्रतों का निविशेषतया पालन महाव्रत कहलाता है और इन्हीं व्रतों का अणु (छोटा) किंवा गृहस्थधर्मीय सुविधा-संस्करण अणुव्रत है। फिर आचार्यश्री अणुव्रतों के प्रवर्तक कैसे?" इस प्रकार की आपत्ति अक्सर उठाई जाती रही है। आचार्यश्री के परिकर वालों को ख्याल हुआ कि 'अणुव्रत-

आन्दोलन के प्रवर्तक' शब्द से चिढ़कर मैंने आचार्यश्री को यह सब लिखा है
लेकिन मुझे तब तक इसका भान भी नहीं था। अणुव्रतों और महाव्रतों का च
पूर्व मुनियों ने निरूपण भी किया हो, लेकिन इसको एक जन-आन्दोलन का रू
आचार्यश्री तुलसी ने ही दिया है, इसलिए उनके आन्दोलन के प्रवर्तकत्व से मु
विरोध क्यों होता। वस्तुत. मेरे विरोध के मूल में अंशतः परिग्रह की पृष्ठ-भू
में अपरिग्रह के विरोधाभास से उत्पन्न एक तात्कालिक प्रतिक्रिया थी और
अंशतः कुछ पूर्व धारणाएँ थीं, जिनकी संगति मैं आज भी जैन-दर्शन से पूर्ण
नहीं मिला पाया हूँ।

उदाहरण के लिए मैं इस निष्कर्ष से सहमत रहा हूँ कि आहार की दृष्टि
से मनुष्य न भेड़-बकरी की तरह शाकाहारी है और न शेर-तेंदुओं की तरह
मांसाहारी। बल्कि उभयाहारी जन्तुओं जैसे भालू, चूहे या कौए की तरह
शाकाहार और मांसाहार दोनों प्रकार का आहार खा-पचा सकता है। इसलिए
मानव-प्रकृति के विरुद्ध होने से आदमी के लिए आहार का दावा मूलतः गलत
है। दूसरे; आहार चाहे वानस्पतिक हो अथवा प्राणिज, उसमें जीवरूपता होती
ही है, अन्यथा आहार देह में सात्म्य किंवा तद्रूप नहीं बन सकता। अतः जैन
आहार के ऊपर, स्थिति और हिंसा का त्याग, ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल
सकती। आहार-मात्र हिंसामूलक है, बल्कि आहार और हिंसा अभिन्न शब्द
पर्यायवाची हैं, ऐसी मेरी धारणा रही है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता और धर्म की आवश्यकता आदि कितने
ही विषयों पर मेरी मान्यताएँ जैन विश्वासों से भिन्न थीं। जब बात चल
निकली तो मैंने अपना कैसा भी मतभेद आचार्यश्री तुलसी से छिपाया नहीं।

मेरा खयाल था कि आचार्यश्री इस विषय को तर्कों से पाट देंगे; लेकिन
उन्होंने तर्क का रास्ता नहीं अपनाया और इतना ही कहा कि "मतभेद भले ही
रहें, मनोभेद नहीं होना चाहिए।" मैं तो यह सुनते ही चकरा गया। तर्क की
तो अब बात ही नहीं रही। चुप बैठ कर इसे हृदयंगम करने की ही चेष्टा
करने लगा।

श्रद्धा बढ़ी

बाद में जितना-जितना मैं इस पर मनन करता गया, उतनी ही आचार्यश्री

तुलसी पर मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। वास्तव में विचारों के मतभेद से ही तो समाजों और वर्गों में इतना पार्थक्य हुआ है। एक ही जाति के दो सदस्य जिस दिन से भिन्न मत अपना लेते हैं, तो मानो उसी दिन से उनका सब कुछ भिन्न होता चला जाता है। भिन्न आचार, भिन्न विचार, भिन्न व्यवहार, भिन्न संस्कार, सब कुछ भिन्न। यहाँ तक कि सब तरह से अलग दिखना ही परम काम्य बन जाता है। मतभेद हुआ कि मनोभेद उसके पहले हो गया। मनोभेद से पक्ष उत्पन्न होता है और पक्ष पर बल देने के साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रह की कट्टरता बढ़ती जाती है। अन्त में आग्रह की अधिकता से एक दिन वह स्थिति आ जाती है, जब भिन्न मतावलम्बी की हर चीज से नफरत और उसके प्रति हमलावराना रुख ही अपने मत के अस्तित्व की रक्षा का एकमात्र उपाय मालूम देता है।

मुझे जहाँ तक याद आता है, किसी भी विचारक ने इसके पूर्व यह बात इस तरह और इतने प्रभाव से नहीं कही। मत की स्वतन्त्रता की रक्षा की वांछनीयता का हवा में शोर है। जनतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए भी मतभेद आवश्यक बताया जाता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के निखार के लिए भी मतभेद रखना जरूरी समझा जाता है। बल्कि मतभेद का प्रयोजन न हो, तो भी मतभेद रखना फैशन की कोटि में आने के कारण जरूरी माना जाता है। परिणाम यह है कि चाहे लोगों के दिल फट कर राई-काई क्यों न हो जायें, लेकिन असूल के नाम पर मतभेद रखने से आप किसी को नहीं रोक सकते।

यदि मुझे किसी एक चीज का नाम लेने को कहा जाए, जिसने मानव-जाति का सबसे ज्यादा खून बहाया है और मानवता को सबसे ज्यादा काँटों में घसीटने पर मजबूर किया है तो वह यही मतभेद है। इसी के कारण अलग धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, समाज आदि बने हैं, जिन्होंने अपनी कट्टरता के आवेश में मतभेद को आमूल और समूल नष्ट कर डालना चाहा है। मतभेदों का निपटारा जब मौखिक नहीं हो पाया तो तलवार की दलील से उन्हें सुलझाने की कोशिशें की गई हैं। एक ने अपने मत की सच्चाई साबित करने के लिए कुर्बान होकर अपने मत को अमर मान लिया है, तो दूसरे ने अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपने हाथ खून से रंग कर अपने मत की जीत मान ली है। दुनिया का अधिकांश इतिहास इन्हीं मतभेदों और इनके सुलझाने के लिए

किये गए हृदयहीन संघर्षों का एक लम्बा दुःखान्त कथानक है।

अब प्रश्न उठता है जब मतभेद रखना इतना विघातक और विपरिणम्य तो क्या मतभेद रखना अपराध करार दिया जा सकता है, या शास्त्रीय ढंग का अवलम्बन करके इसे पाप और नरक में ले जाने वाला घोषित कर दि जाए? न रहेंगे मतभेद, न होगी यह खून खराबी और अशान्ति।

लेकिन समाधान इससे नहीं होगा। अगर आदमी के सोचने की और मत स्थिर करने की क्षमता पर समाज का कानून अंकुश लगायेगा, तो कानून की जड़ें हिल जायेंगी और यदि धर्मपीठ से इस पर प्रतिबन्ध लगाने की आवाज उठी तो मनुष्य धर्म से टक्कर लेने में भी हिचकेगा नहीं। धर्म ने जब-जब मानव को सोचने और देखने से मना करने की कोशिश की है, तभी उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा है। अपना स्वतन्त्र मत बनाने और मतभेद को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता तो मानव को देनी ही होगी, जो पात्र हैं उनको भी और जो पात्र नहीं हैं उनको भी।

फिर इसे निर्विष कैसे किया जाए? विशुद्ध तर्क से तो सबको अनुकूल करना सम्भव है नहीं, और शस्त्र-बल से भी एकमत की प्रतिष्ठा के प्रयास हमेशा असफल ही रहे हैं। क्रिया, फिर प्रतिक्रिया—फिर प्रति प्रतिक्रिया; हमले और फिर जवाबी हमले। मतों और मतभेदों का अन्त इससे कभी हुआ नहीं। ऐसी अवस्था में आचार्यश्री तुलसी का सूत्र कि 'मतभेद के साथ मनोभेद न रखा जाए', मुझे अपूर्व समाधानकारक मालूम देता है। विष-बीज को निर्विष करने का इससे अधिक अहिंसक, यथार्थवादी और प्रभावकारी उपाय मेरी नजरों से नहीं गुजरा।

भारत के युग-द्रष्टा ऋषि

इसके उपरान्त भी मैं आचार्यश्री तुलसी से अनेक बार मिला, लेकिन फिर अपने मतभेदों की चर्चा मैंने नहीं की। भिन्न मुण्ड में भिन्न मति तो रहेगी। मेरे अनेक विश्वास हैं, उनके अनेक आधार हैं, उनके साथ अनेक ममत्व के सूत्र-सम्बद्ध हैं। सभी के होते हैं। लेकिन इन सब भेदों से अतीत एक ऐसा भी [illegible]हिए, जहाँ हम परस्पर सहयोग से काम कर सकें। मैं समझता [illegible] की जाए तो समान आधारों की कमी नहीं रह सकती।

आचार्यश्री तुलसी एक सम्प्रदाय के धर्मगुरु हैं और विचारक के लिए किसी सम्प्रदाय का गुरु-पद कोई बहुत नफे का सौदा नहीं है। बहुधा तो यह पदवी विचारबन्धन और तगनजरी का कारण बन जाती है। लेकिन आचार्यश्री की दृष्टि उनके अपने सम्प्रदाय तक ही निमज्जित नहीं है। वे सारे भारत के युग-द्रष्टा ऋषि हैं। जैन-शासन के प्रति मेरी आदर-बुद्धि का उदय उनसे परिचय के बाद ही हुआ है, अतएव मैं तो व्यक्तिशः उनका आभारी हूँ।

करोड़ों शोषितों और श्रमजीवियों के लिए नई आशा और मानव जाति के लिए नैतिक पुनरुत्थान का नया सन्देश लेकर अवतरित हुए हैं।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के आध्यात्मिक आचार्य हैं। साधारणतः कहा जाता है कि जैन धर्म का सबसे पहले भगवान् महावीर ने प्रचार किया, जो भगवान बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है, जिसकी जड़ें पूर्व ऐतिहासिक काल में पहुँची हुई हैं। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने जैन धर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय की स्थापना की; जिसका अर्थ होता है—वह समुदाय जो तेरे (भगवान् के) पथ का अनुसरण करता है। आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के नवम गुरु अथवा आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक हैं। केवल ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और फिर ग्यारह वर्ष की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् वे उस सम्प्रदाय के पूजनीय गुरुपद पर आसीन हुए। आचार्यश्री तुलसी का हृदय जनसाधारण के कष्टों को देख कर द्रवित हो गया। उनके प्रति असीम प्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। उसका उद्देश्य उच्च नैतिक मानदण्ड को प्रोत्साहन देना और व्यक्ति को शुद्ध करना ही नहीं है, प्रत्युत जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रवेश कर समाज की पुनर्रचना करना है। अणुव्रत जीवन का एक प्रकार और समाज की एक कल्पना है। अणुव्रती बनने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि मनुष्य भला और सच्चा मनुष्य बने।

नैतिक शास्त्र का आविष्कार

प्रत्येक आन्दोलन का अपना आदर्श होता है और अणुव्रत-आन्दोलन का भी एक आदर्श है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें स्त्री और पुरुष अपने चरित्र का सोच-समझ कर परिश्रम पूर्वक निर्माण करते हैं और अपने को मानव जाति की सेवा में लगाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन पुरुषों और स्त्रियों को कुछ विशेष अभ्यास करने की प्रेरणा देता है, जिनसे लक्ष्य की प्राप्ति होती है। हमारे साधारण जीवन में भी हम को यह विचार करना पड़ता है कि हम को क्या काम करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। फिर भी हम सही मार्ग पर नहीं चल पाते। हम क्यों असफल होते हैं और किस प्रकार

करोड़ों शोषितों और श्रमजीवियों के लिए नई आशा और मानव जाति के लिए नैतिक पुनरुत्थान का नया सन्देश लेकर अवतरित हुए हैं।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के आध्यात्मिक आचार्य हैं। साधारणत: कहा जाता है कि जैन धर्म का सबसे पहले भगवान् महावीर ने प्रचार किया, जो भगवान बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है, जिसकी जड़ें पूर्व ऐतिहासिक काल में पहुँची हुई हैं। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने जैन धर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय की स्थापना की; जिसका अर्थ होता है—*वह सम्प्रदाय जो तेरे (भगवान् के) पथ का अनुसरण करता है।* आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के नवम गुरु अथवा आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक हैं। केवल ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और फिर ग्यारह वर्ष की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् वे उस सम्प्रदाय के पूजनीय गुरुपद पर आसीन हुए। आचार्यश्री तुलसी का हृदय जनसाधारण के कष्टों को देख कर द्रवित हो गया। उनके प्रति असीम प्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। उसका उद्देश्य उच्च नैतिक मानदण्ड को प्रोत्साहन देना और व्यक्ति को शुद्ध करना ही नहीं है, प्रत्युत जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रवेश कर समाज की पुनर्रचना करना है। अणुव्रत जीवन का एक प्रकार और समाज की एक कल्पना है। अणुव्रती बनने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि मनुष्य भला और सच्चा मनुष्य बने।

नैतिक शास्त्र का आविष्कार

प्रत्येक आन्दोलन का अपना आदर्श होता है और अणुव्रत-आन्दोलन का भी एक आदर्श है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें स्त्री और पुरुष अपने चरित्र का सोच-समझ कर परिश्रम पूर्वक निर्माण करते हैं और अपने को मानव जाति की सेवा में लगाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन पुरुषों और स्त्रियों को कुछ विशेष अभ्यास करने की प्रेरणा देता है, जिनसे सत्य की प्राप्ति होती है। हमारे साधारण जीवन में भी हम को यह विचार करना पड़ता है कि हम को क्या काम करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। फिर भी हम सही मार्ग पर नहीं चल पाते। हम क्यों असफल होते हैं और किस प्रकार

सही मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प कर सकते हैं, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी ने इन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने विभिन्न सार्वजनिक और व्यक्तिगत प्रवचनों में उनकी अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है।

लोकतन्त्र एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली है, जिसके द्वारा समाज का ऐसा संगठन किया जाता है कि सब मनुष्य उसमें सुखी रह सकें। किन्तु जब हम लोकतन्त्री सामाजिक जीवन की ओर देखते हैं तो हमें हृदयहीन धन-सत्ता और शोषण के दर्शन होते हैं। राज्य शासकों और शासितों में विभक्त दिखाई देता है। लोकतन्त्र की उज्ज्वल कल्पना और भयानक वास्तविकता में अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। मानव प्रेम और अगाध निष्ठा से प्रेरित होकर बारह वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के नैतिक शास्त्र का आविष्कार किया और उसको व्यावहारिक रूप दिया। अणुव्रत शब्द निःसन्देह जैन शास्त्रों से लिया गया है, किन्तु अणुव्रत-आन्दोलन में साम्प्रदायिकता का लवलेश भी नहीं है।

इस आन्दोलन का एक प्रमुख स्वरूप यह है कि वह किसी विशेष धर्म का आन्दोलन नहीं है। कोई भी स्त्री-पुरुष इस आन्दोलन में सम्मिलित हो सकता है और इसके लिए उसे अपने धार्मिक सिद्धान्तों से तनिक भी इधर-उधर होने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता इस आन्दोलन का मूल मन्त्र है। वह न केवल असाम्प्रदायिक है, प्रत्युत सर्वव्यापी आन्दोलन है।

अणुव्रत जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, अत्यन्त सरल वस्तु है। अणु का अर्थ होता है—किसी भी वस्तु का छोटे-से-छोटा अंश। अतः अणुव्रत ऐसी प्रतिज्ञा हुई, जिसका आरम्भ छोटे-से-छोटा होता है। मनुष्य इस लक्ष्य की ओर अपनी यात्रा सबसे नीची सीढ़ी से आरम्भ कर सकता है। कोई भी व्यक्ति एक दिन में, अथवा एक महीने में वांछित परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। उसको धीरे-धीरे किन्तु गहरी निष्ठा के साथ प्रयत्न करना चाहिए और शनैः-शनैः अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए। मनुष्य यदि व्यवसाय में किसी उद्योग में या और किसी धन्धे में लगा हुआ हो तो अणुव्रत-आन्दोलन उसे उच्च नैतिक मानदण्ड पर चलने की प्रतिज्ञा लेने की प्रेरणा देता है। इस प्रतिज्ञा का आचरण बहुत छोटी बात से आरम्भ होता है और धीरे-धीरे उसमें

जीवन की सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। अणुव्रत मनुष्यों को बुद्धि-सगत जीवन की सिद्धि के लिए आत्म-निर्भर बनने में सहायता देता है। उसके फलस्वरूप अहिंसा, शान्ति, सद्भावना और सहमति की स्थापना हो सकेगी।

नैतिक क्रान्ति का सन्देश

भारत चौदह वर्ष पूर्व विदेशी शासन के जूए से स्वतन्त्र हुआ। विशाल पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा भी हम आर्थिक और सामाजिक शान्ति नहीं कर पाये। जब तक हम ऐसी नई समाज-व्यवस्था की स्थापना नहीं करेंगे, जिसमें निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी सुखी जीवन बिता सकेगा, तब तक हमारा स्वराज्य इस विशाल देश के करोड़ों व्यक्तियों का स्वराज्य नहीं हो सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे सिर पर सर्वसंहारकारी अणुयुद्ध का भयानक खतरा मंडरा रहा है। इस आणविक युग में जब कि शस्त्रों की प्रतियोगिता चल रही है, सर्वनाश प्रायः निश्चित दिखाई देता है। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में समस्याएं अधिकाधिक जटिल होती जा रही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि लोकमत सम्बन्धित सरकारों को प्रभावित नहीं कर पा रहा है। इस संकट में आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन एक नई सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक क्रान्ति का सन्देश देकर हमको मार्ग दिखा रहा है। यह न तो दया का कार्यक्रम है और न ही दान-पुण्य का। यह तो आत्म शुद्धि का कार्यक्रम है। इसमें केवल व्यक्ति की ही आत्म-रक्षा नहीं है, प्रत्युत संसार के सभी राष्ट्रों की रक्षा निहित है। जब कि विनाश का खतरा हमारे सम्मुख है, अणुव्रत-आन्दोलन हमें ऐसी राह दिखा रहा है, जिस पर चल कर मानव-जाति त्राण पा सकती है।

तेजोमय पारदर्शी व्यक्तित्व

श्री केदारनाथ चटर्जी
सम्पादक, माडर्न रिव्यू, कलकत्ता

प्रथम सम्पर्क का सुयोग

बीस वर्ष पूर्व सन् १९४१ के पतझड़ की बात है। एक मित्र ने मुझे सुझाया कि मैं अपनी पूजा की छुट्टियाँ बीकानेर राज्य में उनके घर पर बिताऊं। इससे कुछ पहले मैं अस्वस्थ था और मुझे कहा गया कि बीकानेर की उत्तम जल-वायु से मेरा स्वास्थ्य सुधर जाएगा। कुछ मित्रों ने यह भी सुझाया कि ब्रिटिश भारत की सेनाओं के लिए देश के उस भाग से रंगरूटों की भरती का जो आन्दोलन चल रहा है, उसके बारे में मैं कुछ तथ्य संग्रह कर सकूंगा। किन्तु यह तो दूसरी कहानी है। मैंने अपने मित्र का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और कुछ समय पटना में ठहरने और राजगृह नालन्दा तथा पावापुरी की यात्रा करने के बाद मैं बीकानेर राज्य के भादरा नामक कस्बे में पहुंच गया।

बीकानेर की यात्रा एक से अधिक अर्थ में लाभदायक सिद्ध हुई। निस्संदेह सबसे सुखद अनुभव यह हुआ कि जैन श्वेताम्बर तेरापंथ-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यश्री तुलसी से संयोगवश भेंट करने का अवसर मिल गया। कुछ मित्र भादरा आए और उन्होंने कहा कि बीकानेर के मध्यवर्ती कस्बे राजलदेसर में कुछ ही दिनों में दीक्षा-समारोह होने वाला है। उसमें सम्मिलित होने के लिए पधार पाने का कष्ट करें। कुछ नये दीक्षार्थी तेरापंथ साधु-समाज में प्रविष्ट होने वाले थे और आचार्यश्री तुलसी उनको दीक्षा देने वाले थे।

मेरे आतिथेय ने मुझसे यह निमन्त्रण स्वीकार करने का अनुरोध किया, कारण, ऐसा अवसर कदाचित् ही मिलता है और मुझे जैन धर्म के सधन-प्रधान पहलू का गहराई से अध्ययन करने का मौका मिल जाएगा। इसी सम्भावना को ध्यान में रखकर मैं अपने आतिथेय के भतीजे और एक अन्य मित्र के साथ

राजलदेसर के लिए रवाना हुआ।

यह किसी दर्शनीय स्थान का यात्रा-वर्णन नहीं है और न ही यह साधारण पाठक के मन-बहलाव के लिए लिखा जा रहा है; इसलिए दीक्षा समारोह के अवसर पर मैंने जो कुछ देखा-सुना, उसका अलंकारिक वर्णन नहीं करूँगा और न ही उस समारोह का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करूँगा। मैंने दीक्षा की प्रतिज्ञा लेने के एक दिन पहले दीक्षार्थियों को भड़कीली वेश-भूषा में देखा। उनके चेहरों पर प्रसन्नता खेल रही थी। उनमें से अधिकांश युवा थे और उनमें स्त्री और पुरुष दोनों ही थे। मुझे यह विशेष रूप से जानने को मिला कि उन्होंने अपनी वास्तविक इच्छा से साधु और साध्वी बनने का निश्चय किया है। वे ऐसे साधु-समाज में प्रविष्ट होंगे, जिसमें सांसारिक पदार्थों का पूर्णतया त्याग और आत्म-संयम करना पड़ता है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि न केवल दीक्षार्थी के संकल्प की दीर्घ समय तक परीक्षा ली जाती है, बल्कि उसके माता-पिता व संरक्षकों की लिखित अनुमति भी आवश्यक समझी जाती है। इसके बाद मैंने व्यक्तिगत रूप से इस बात की जाँच की है और इसकी पुष्टि हुई है। जहाँ तक इस साधु-समाज का सम्बन्ध है, मुझे उनकी सत्यता पर पूरा विश्वास हो गया है।

मेरे सामने सीधा ज्वलन्त प्रश्न यह था कि वह कौनसी शक्ति है, जो इस कठोर और गम्भीर दीक्षा-समारोह में पूज्य आचार्यश्री के कल्याणकारी नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होने वाले दीक्षार्थियों को इस संसार और उसके विविध आकर्षणों, सुखों और इच्छाओं का त्याग करने के लिए प्रेरित करती है?

अपनी पृष्ठ-भूमि

इस विषय में अधिक लिखने से पूर्व मैं इस संसार और मनुष्य-जीवन के बारे में अपना दृष्टि-बिन्दु भी उपस्थित करना चाहूँगा। मेरे पूर्वजों की पृष्ठ-भूमि उन विद्वान् ब्राह्मणों की है जो अपनी आँखें खुली रख कर जीवन बिताते थे और उनके मन में निरन्तर यह जिज्ञासा रहती थी—तत् किम्? मेरी तात्कालिक पृष्ठभूमि ब्रह्म समाज की थी। यह हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय है जो उपनिषदों की ज्ञानमार्गी व्याख्या पर आधारित है। मुझे विज्ञान की शिक्षा मिली है और मैंने लन्दन में डिग्री और डिप्लोमा प्राप्त किया है। बाद में मेरे

पूज्य पिताजी ने मुझे राजनीतिक की शिक्षा दी जो अपने समय में इस देश के एक महान् और उदार नागरिक थे। मैंने विस्तृत भ्रमण किया और तीन महा-द्वीपों का जीवन भी देखा है। मेरे पिताजी को सार्वजनिक जीवन से जो स्थान प्राप्त था, उनके कारण ही देश के प्रायः सभी महापुरुषों और कुछ विशिष्ट विदेशी व्यक्तियों से भी मिल चुका हूँ।

इस प्रकार मुझे यह गौरव है कि मेरी पृष्ठभूमि एक मंजे हुए निरीक्षक की थी, जो जीवन को एक यथार्थवादी दृष्टि से देख सकता है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी से भेंट के समय मेरी अवस्था ६० वर्ष की थी और जीवन के सम्बन्ध में मुझे कोई विशेष भ्रम नहीं थे। मैंने सन् १९१४-१८ की अवधि में प्रथम महा-युद्ध को निकट से देखा था और इसलिए मानव स्वभाव और मानव-दुर्बलताओं एवं विकारों के सम्बन्ध में काफी संशयशील बन गया था। मैं यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि दीक्षार्थियों के सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा का हल धार्मिक उत्साह से उत्पन्न नहीं हुआ था बल्कि बात इसके बिल्कुल विपरीत थी।

वह ऐसी कौनसी शक्ति थी, जिसने इन दीक्षार्थियों को कठोर संयम और सम्पूर्ण त्याग का जीवन अपनाने को प्रेरित किया? मैंने एक दिन पूर्व उनमें से कुछ को भड़कीली वेश-भूषा में जीवन का उपभोग करते हुए देखा था। दीक्षा-समारोह में मैं इतना निकट बैठा हुआ था कि दीक्षार्थियों को साफ-साफ देख सकता था। उनमें दो या तीन लड़के और एक लड़की थी और वे यौवन की देहली में पाँव रखने जा रहे थे। एक दिन पहले मैंने जो कुछ देखा, उसके बाद यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि उन्होंने प्रभाव से प्रेरित होकर यह निर्णय किया होगा। अवश्य ही धार्मिक वातावरण के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रत्येक उदाहरण में क्या यही एकमात्र प्रेरक कारण हो सकता है? यदि इस पथ को मानने वाले मेरी जान-पहिचान के कुछ लोगों की व्याव-सायिक नैतिकता और सामान्य जीवन-पद्धति पर विचार किया जाए तो यही कहना होगा कि यही एकमात्र कारण नहीं है। मुझे यह खेदपूर्वक लिखना पड़ रहा है, किन्तु उस समय मेरा यही तर्क था और स्वयं पूज्य आचार्यश्री ने अपने अनुयायियों के बारे में, अणुव्रत आन्दोलन के सिलसिले में, अपनी पद-यात्रा के दौरान में कलकत्ता में जो कुछ कहा था, उसके आधार पर यह लिखने का साहस कर रहा हूँ।

मरने प्रश्न का जो उत्तर मिला, उसे मैं सीधे और स्पष्ट रूप में यहाँ लिख दूँ। इस पार्थिव संसार में, साधारण मनुष्यों के लिए मानव प्राणियों पर दैवी प्रभाव किस प्रकार काम करता है, यह मालूम करना आसान नहीं होता। जहाँ तक सामान्य जन का सम्बन्ध है, तीव्रता और प्रकाश का प्रसार आत्मा के आन्तरिक विकास पर निर्भर करता है जो मशाल-वाहक का काम करता है। मशाल की ज्योति मशालवाहक की आन्तरिक शक्ति के परिमाण पर मन्द या तीव्र होती है। जरूरतमन्दों और पीड़ितों में श्री रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करने के लिए असीसी के संत फ्रांसिस जैसी समर्पित आत्मा की आवश्यकता थी। इसी प्रकार आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना की। इसलिए मुझे अपने प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व में खोजना पड़ा।

दीक्षा-समारोह के पहले मैं उनसे मिल चुका था। उन्होंने सुना था कि बंगाल के एक पत्रकार आये हैं। उन्होंने दीक्षार्थियों के चुनाव की विधि और दीक्षा के पहले की सारी क्रियाएँ मुझे समझाने की इच्छा प्रकट की। इसका यह कारण था कि उनके साधु समाज के उद्देश्यों और प्रवृत्तियों के बारे में कुछ अपवाद फैलाया गया था। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं हिन्दी अच्छी तरह बोल और समझ सकता हूँ और उन्होंने सारी विधि मुझे विस्तार से समझा दी। भक्त लोग दर्शन करने और पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए आते रहे और इससे बीच-बीच में बाधा पड़ती रही: वे भक्तों को आशीर्वाद देते जाते और शान्तिपूर्वक दीक्षा की विधि विस्तार से समझाते रहे।

अन्त में उन्होंने हँसते हुए मुझे कोई प्रश्न पूछने के लिए संकेत किया। मेरे मस्तिष्क में अनेक प्रश्न थे, किन्तु उनमें से दो मुख्य और नाजुक थे; कारण उनका सम्बन्ध उनके धर्म से था। काफी संकोच के बाद मैंने कहा कि यदि मेरे प्रश्न आपत्तिजनक प्रतीत हों तो वे मुझे क्षमा कर दें। मैंने कहा कि मैं दो प्रश्न पूछना चाहता हूँ और मुझे भय है कि उन पर आपको बुरा लग सकता है। इस पर उन्होंने कहा कि यदि प्रश्न ईमानदारी से पूछोगे तो बुरा लगने की कोई बात नहीं है। तब मैंने प्रश्न पूछे।

दो प्रश्न

पहला प्रश्न जीवन के प्रकार और मेरी विनीत मान्यता के अनुसार पाप

और मोक्ष के बारे में था। जिस धर्म में मेरा पालन-पोषण हुआ था, उसमें गृहस्थ आश्रम को मूलतः पापमय नहीं समझा जाता, जब कि जैन धर्म के सिद्धान्तो के अनुसार ससार के सम्पूर्ण त्याग द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः यदि मैं अपने धर्म पर श्रद्धा रख कर चलूँ तो क्या मेरे जैसे प्राणी को मोक्ष मिल ही नहीं सकता ?

दूसरा प्रश्न था कि दुनिया किस तरह चल रही है ? उस समय द्वितीय महायुद्ध अपने पूरे वेग, रक्तपात और विनाश के साथ चल रहा था। मैंने पूछा कि जब दुनिया मे सत्ता और अधिकार की लिप्सा का बोलबाला है शक्तिशाली वही है जो सूक्ष्म नैतिक विचारो की कोई परवाह नही करता और उनको कमजोरो और अज्ञानियो का भ्रम-मात्र समझते हैं, क्या अहिंसा की विजय हो सकती है ? उनके निकट नैतिकता और धर्म-सापेक्ष शब्द है। विज्ञान में दक्ष और युद्ध करने में समर्थ लोगों के लिए जो उचित है, वह कमजोरों और अकुशल लोगों के लिए उचित नहीं है। अपने कथन के प्रमाणस्वरूप वे इतिहास की साक्षी प्रस्तुत करते हैं।

मेरे साथ एक परिचित सज्जन थे, जो तेरापंथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने कहा कि मेरा दूसरा प्रश्न आचार्यश्री की समझ मे नहीं आया। इससे मेरे मन में शंका पैदा हुई और मैंने अपने मित्र की ओर एवं फिर आचार्यश्री की ओर देखा। आचार्यश्री जब मैं प्रश्न पूछ रहा था, तो चुप थे और मेरे प्रश्नों का विचार करते प्रतीत हुए। किन्तु मैंने देखा कि उनके शान्त नेत्रों में प्रकाश की किरण चमक उठी और उन्होंने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए शान्त वातावरण की आवश्यकता होगी, इसलिए अच्छा होगा कि आप सायंकाल सूर्यास्त के बाद जब आयेंगे, मैं प्रतिक्रमण व प्रवचन समाप्त कर चुकूँगा और तब एकान्त में वार्तालाप अच्छी तरह हो सकेगा।

मुझे पता था कि मुझे विशेष अवसर दिया जा रहा है; क्योंकि सूर्यास्त के बाद आचार्यश्री से उनके निकट शिष्यों के अतिरिक्त बहुत कम लोग मिल पाते हैं। मैंने यह सुझाव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

धर्म-गुरुओं से विशेष चर्चा

मेरे प्रश्न पिछेविचार और सामान्य थे, कारण द्वितीय महायुद्ध के

बाद के वर्षों में दुनिया बहुत अधिक बदल गई है। किन्तु जिस समय मैंने ये प्रश्न पूछे थे, उस समय उनका विभिन्न जातियों, धार्मिक सम्प्रदायों और जीवन-दर्शनों के बीच विद्यमान मतभेदों की दृष्टि से कुछ और ही महत्त्व था। उस समय मनुष्य और मनुष्य के मध्य सहिष्णुता के अभाव के कारण से मतभेद इतने तीव्र और अनुल्लंघनीय थे कि विचारों का स्वतन्त्र आदान-प्रदान न केवल असम्भव; बल्कि व्यर्थ हो गया था। इस प्रकार के आदान-प्रदान के फलस्वरूप प्रतिदिन सुस्थिर रहने वाले तनाव में वृद्धि ही हो सकती थी।

मैं पहला प्रश्न थोड़े हेर-फेर के साथ भिन्न-भिन्न धर्मों के अनेक विद्वान् धर्म-गुरुओं से पूछ चुका हूँ। उनमें एक रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के मुक्ति-पंथी पादरी, एक मुस्लिम मौलाना और एक हिन्दू सन्यासी शामिल थे। मुझे जो उनसे उत्तर मिले, वे या तो अत्यन्त दयनीय या निश्चित रूप से उद्दण्डतापूर्ण थे। उनको समाधानकारक तो कभी नहीं कहा जा सकता।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में द्वितीय महायुद्ध जो मौत और विनाश के पथ पर तेजी से आगे बढ़ रहा था, अहिंसा की विजय की समस्त आशाओं को निर्मूल करता हुआ प्रतीत होता था। जैसा कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक निराशाजनक कविता में इसी आशय की पुष्टि करते हुए कहा भी था—'करुणाघन धरणी तल करो कलंक शून्य।' अवश्य ही शान्ति के दूसरे उपासक महात्मा गांधी स्वयं अपने अनुयायियों के विरोध और उदासीन उद्गारों के बावजूद भी अपनी अहिंसा की मान्यता पर अविचल भाव से डटे हुए थे। यह स्थिति तो केवल भारत में थी। शेष दुनिया में जंगल के कानून का बोलबाला था और केवल अहिंसा का नाम लेने मात्र पर हल्की और तिरस्कारपूर्ण हँसी सुनने को मिलती थी।

इस पृष्ठभूमि में मैंने अपने दो प्रश्न पूछे थे और मैं जिज्ञासा और आशंका-मिश्रित भाव से उनके उत्तरों की प्रतीक्षा कर रहा था, क्योंकि उत्तर ऐसे व्यक्ति के द्वारा लिखने वाले थे जो भारतीय ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते हैं, भले ही उन्हें पश्चिम की रीति-नीति की प्रकट जानकारी न हो। मैं अपने परिचित छात्रों के कथन से, जो उनके अनुयायी थे, कुछ ऐसा ही समझा था।

मैं निराश नहीं हुआ। उन एकान्त शान्त लेखों को पढ़ कर जो आशाएँ

जो हृदय में उत्पन्न हुई थी उसको विस्तार से परिलक्षित नहीं होना पड़ा। मेरे परिचित मित्र ने धर्म की आस्था के प्रश्न के बारे में इस प्राचीन और नूतनकाल [illegible] को या तो पुष्ट नहीं या पूरा पर ध्यान नहीं दिया कि सत्ता निश्चय से सब अर्थात् सच्चा ज्ञान प्रकाश के समान अन्धकार का नाश कर देता है।

जब मैं आचार्यश्री से मध्याह्न के भोजन समय में पुनः मिला तो मुझसे कहा कहा कि मैं अपने प्रश्नों का विस्तृत रूप से उत्तर को विस्तार से दूंगा। मैंने अपने दूसरे प्रश्न का विस्तार करते हुए कहा कि पश्चिम में लोग योरप और दोनों को हमारे प्राचीन ऋषियों की भांति मानवी गुण मानते हैं और जीवन में साहस को सर्वोपरि स्थान देते हैं। उनका उत्तर और विवेचन में और अच्छा होता कि मैंने उसको पूरा लिख लिया होता। किन्तु अब अपनी स्मृति के आधार पर संक्षेप में ही उसका विवेचन कर पाऊँगा।

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा कि किसी धर्म, मान्यता या सम्प्रदाय और उनके गुरुओं या धर्मावतारों के बारे में निन्दात्मक या हीन भाषा का प्रयोग करना स्वयं उनके धर्म के विरुद्ध है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर काफी विस्तृत और लम्बा था। उनका कहना था कि हिंसा और सन्देह जिनमें दो मूलभूत बुराइयाँ हैं, जिनसे मानव जाति पीड़ित है और वे युद्ध के अत्यन्त उग्र और व्यापक प्रतीक हैं। इन दोनों नग्न बुराइयों पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है और दुनिया को यह सत्य एक दिन स्वीकार करना ही होगा। मनुष्य सबसे बड़ी बुराइयों पर विजय प्राप्त किये बिना कैसे महत्तर सिद्धि प्राप्त कर सकता है?

अन्त में आचार्यश्री मेरी ओर मुस्कराये और पूछा कि क्या मेरा समाधान हो गया। मैंने उत्तर दिया कि मुझे उत्तर अत्यन्त सहायक प्रतीत हुए हैं और मैंने प्रणाम कर उनसे विदा ली।

उसके बाद

इस घटना के वर्षों बाद, मैंने कलकत्ता में एक विशाल जन-समूह से भरे हुए पण्डाल में आचार्यश्री को अणुव्रत-आन्दोलन पर प्रवचन करते हुए सुना। उसके बाद उन्होंने थोड़े समय के लिए मुझसे व्यक्तिगत वार्तालाप के लिए कहा। उन्होंने देश के भीतर नैतिक मूल्यों के ह्रास पर अपनी चिन्ता व्यक्त

की। उन्होंने कहा कि उन्हें भ्रष्टाचार और नैतिक पतन की शक्तियों के विरुद्ध आन्दोलन करने की अन्तरतम से प्रेरणा हो रही है, विशेषकर जब कि स्वयं उनके अपने सम्प्रदाय के लोग भी तेजी से पतन की ओर जा रहे हैं।

मैंने पूछा कि अपनी सफलता के बारे में उनका क्या ख्याल है, उनके मुख पर वही मुस्कराहट खेल गई, हालांकि उनके नेत्रों में उदासी की रेखा खिंची हुई दिखाई दी। उन्होंने कहा, जब वह नई दिल्ली में पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिले थे तो उन्होंने पंडितजी से पूछा था कि अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता के बारे में उनका क्या ख्याल है। पंडितजी ने कहा था कि वह दिन-प्रतिदिन दुनिया के सामने अहिंसा का प्रचार करते रहते हैं, किन्तु उनकी बात कौन सुनता है? पंडितजी ने कहा कि हम को अपने ध्येय पर अटल रहना है और उसका प्रचार करते जाना है। आचार्यश्री ने कहा कि शान्ति और पवित्रता के ध्येय पर उनकी भी ऐसी ही श्रद्धा और निष्ठा है।

तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में

मुझे सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य वश अपने जीवन के ७० वर्षों में ऐसे बहु-संख्यक लोगों से मिलने का काम पड़ा जो प्रसिद्ध और महान व्यक्ति की ख्याति अर्जित कर चुके थे। खेद है कि उनमें से बहुत कम लोगों के मुख पर मैंने सत्य और पवित्रता की उज्ज्वल ज्योति अपने पूरे तेज के साथ चमकते हुए देखी जैसी कि एक शुद्ध आबदार हीरे में चमकती दिखाई देती है। मैं पारदर्शी और तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में आचार्यश्री तुलसी का स्थान देखता हूँ।

तो क्यों ?

श्री अक्षयकुमार जैन
सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

बड़े-बड़े आकर्षक नेत्र, उन्नत ललाट, श्वेत चादर से लिपटे एक स्वस्थ और पवित्र मूर्ति के रूप में जिस साधु के दर्शन दिल्ली में ही दस-बारह वर्ष पहले मुझे हुए, उन्हें भूलना सहज नहीं है। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा तेज और प्राचीन साधुता है। भारत में साधु-संन्यासी सदा से समादृत रहे हैं; बिना इस भेदभाव के कि कौन साधु किस धर्म अथवा सम्प्रदाय का है। हमारे देश में त्यागियों के प्रति एक विशेष श्रद्धा रही है। ऐसे बहुत कम भारतीय होंगे जो इस भाव से बचे हुए हों।

श्रद्धानन्द बाजार में आचार्यश्री तुलसी के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उस समय मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि उम्र में बहुत अधिक बड़े न होकर भी आचार्य पद प्राप्त करने वाले तुलसीगणी जहाँ जा रहे हैं, वहाँ पर एक विशेष जागृति उत्पन्न होती है तो क्यों ?

भक्तों की बड़ी भारी भीड़ थी। फिर भी मुझे आचार्यश्री के पास जाकर कुछ मिनट बातचीत करने का सुअवसर मिला। जो सुना था कि आचार्य तुलसी अन्य साधुओं से कुछ भिन्न हैं, यह बात सच दिखाई दी। तेरापंथ सम्प्रदाय के छोटे-बड़े सभी लोग उनके भक्त हैं, उनसे बंधे हैं, किन्तु मेरी धारणा है कि आचार्य तुलसी सम्प्रदाय से ऊपर हैं। सच्चे साधु की तरह वे किसी धर्म विशेष से बँधे नहीं हैं। उनका अणुव्रत-आन्दोलन शायद इसीलिए तेरापंथ अथवा जैन समाज में सीमित न रहकर भारतीय समाज तक पहुँच रहा है।

गत कुछ वर्षों में आचार्यश्री तुलसी के विचार और उनका आशीर्वाद-प्राप्त समाजोत्थान का आन्दोलन धीरे-धीरे राष्ट्रपति भवन से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक चलता जा रहा है।

अभी कुछ समय पहले जब वे पूर्व भारत के दौरे से दिल्ली लौटे थे, तब दिल्ली में सभी वर्गों की ओर से एक अभिनन्दन समारोह हुआ था। तब मैं सोच रहा था कि अपने आपको आस्तिक समझते हुए भी धर्म निरपेक्ष देश में मुझे अपने ही समाज के एक साधु के अभिनन्दन में मंच पर सम्मिलित होना चाहिए या अधिक से-अधिक मैं श्रोताओं में बैठने का अधिकारी हूँ। किन्तु तभी मेरे मन को समाधान प्राप्त हुआ कि साधु किसी समाज विशेष के नहीं होते। विशेष कर आचार्य तुलसी बाह्यरूप से भले ही तेरापंथ के साधु लगते हों, पर उनके उपदेश और उनकी प्रेरणा से चलाये जा रहे आन्दोलन में सम्प्रदाय की गन्ध नहीं है। इसलिए मैं अभिनन्दन के समय वक्ताओं में शामिल हो गया।

आचार्यश्री भारतीय साधुओं की भांति यात्रा पैदल ही करते हैं। इसलिए छोटे-छोटे गाँवों तक वे जाते हैं। उन गाँवों में नयी चेतना शुरू हो जाती है। यदि इस स्थिति का लाभ बाद में कार्यकर्ता लोग उठाएं तो बहुत बड़ा काम हो सकता है।

अणुव्रत, आचार्यश्री तुलसी और विश्व-शान्ति

श्री अनन्त मिश्र
सम्पादक, सन्मार्ग, कलकत्ता

नागासाकी के खण्डहरों से प्रश्न

विश्व के क्षितिज पर इस समय युद्ध और विनाश के बादल मण्डरा रहे हैं। अन्तरिक्ष-यान और आणविक विस्फोटों की गड़गड़ाहट से सम्पूर्ण संसार हिल उठा है। हिंसा, द्वेष और घृणा की भट्टी सर्वत्र सुलग रही है। संसार के विचारशील और शान्तिप्रिय व्यक्ति आणविक युद्धों की कल्पना-मात्र से आतंकित हैं। ब्रिटेन के विख्यात दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल आणविक परीक्षण-विस्फोटों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ८६ वर्ष की आयु में सत्याग्रह कर रहे हैं। प्रशान्त महासागर, सहारा का रेगिस्तान, साइबेरिया का मैदान और अमेरिका का दक्षिणी तट ; भयंकर अणुबमों के विस्फोटों से अभिगुंजित हो रहे हैं। सोवियत रूस ने ५० से १०० मेगाटन के अणुबमों के विस्फोट की घोषणा की है तो अमेरिका ५०० मेगाटन के बमों के विस्फोट के लिए प्रस्तुत है। सोवियत रूस और अमेरिका द्वारा निर्मित यान सैकड़ों मील ऊँचे अन्तरिक्ष के पर्दे को फाड़ते हुए चन्द्रलोक तक पहुँचने की तैयारी कर रहे हैं। छोटे-छोटे देशों की स्वतन्त्रता बड़े राष्ट्रों की कृपा पर आश्रित है। ऐसे संकट के समय स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि संसार में वह कौन सी ऐसी शक्ति है जो अणुबमों के प्रहार से विश्व को बचा सकती है। जिन लोगों ने द्वितीय युद्ध के उत्तरार्द्ध में जापान के नागासाकी और हिरोशिमा जैसे शहरों पर अणुबमों का प्रहार होते देखा है, वे उन नगरों के खण्डहरों से यह पूछ सकते हैं कि मनुष्य कितना क्रूर और पैशाचिक होता है।

निस्सन्देह मानव की क्रूरता और पैशाचिकता के शमन की क्षमता एकमात्र अहिंसा में है। सत्य और अहिंसा में जो शक्ति निहित है, वह अणु और उद्जन

बमों में कहाँ ! भारतवर्ष के लोग सत्य और अहिंसा की अमोघ शक्ति से परिचित हैं; क्योंकि इसी देश में तथागत बुद्ध और श्रमण महावीर जैसे अहिंसा-व्रती हुए हैं। बुद्ध और महावीर ने जिस सत्य व अहिंसा का उपदेश दिया, उसी का प्रचार महात्मा गांधी ने किया। ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए गांधीजी ने अहिंसा का ही प्रयोग किया था। सत्य और अहिंसा के सहारे गांधीजी ने सदियों से परतन्त्र देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता और चेतना का पथ-प्रदर्शित किया। अत भारतवर्ष के लोग अहिंसा की अमोघ शक्ति से परिचित हैं। सत्य, अहिंसा, दया और मैत्री के सहारे जो लड़ाई जीती जा सकती है, वह अणुबमों के सहारे नहीं जीती जा सकती।

वर्तमान युग में सत्य, अहिंसा, दया और मैत्री के सन्देश को यदि किसी ने अधिक समझने का यत्न किया है तो निःसंकोच अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। अणुबम के मुकाबले आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत अधिक शक्तिशाली माना जा सकता है। अणुव्रत से केवल बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ ही नहीं जीती जा सकती, बल्कि हृदय की दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

युद्ध के कारण का उन्मूलक

जैन-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक अभ्युत्थान के लिए किया गया बहुत बड़ा अभियान है। मनुष्य के चरित्र के विकास के लिए इस आन्दोलन का बहुत बड़ा महत्त्व है। चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, हिंसा, द्वेष, घृणा और अनैतिकता के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी ने जो आन्दोलन प्रारम्भ किया है, वह अब सम्पूर्ण देश में व्याप्त है। अणुव्रत का अभिप्राय है उन छोटे-छोटे व्रतों का धारण करना, जिनसे मनुष्य का चरित्र उन्नत होता है। सरकारी कर्मचारी, किसान, व्यापारी, उद्योगपति, अपराधी और अनीति के पोषक लोगों ने भी अणुव्रत को धारण कर अपने जीवन को स्वच्छ बनाने का यत्न किया है। कठोर कारादण्ड भोगने के बाद भी जिन अपराधियों के चरित्र में सुधार नहीं हुआ, वे अणुव्रती बनने के बाद सच्चरित्र और नीतिवान् हुए। इस प्रकार अणुव्रत मानव-हृदय की उन बुराइयों का उन्मूलन करता है जो युद्ध का कारण बनती हैं। आचार्यश्री तुलसी का मैत्री-दिवस शान्ति और सद्भावना

का सन्देश देता है।

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजन होवर और सोवियत प्रधानमन्त्री श्री निकिता ख्रुश्चेव के मिलन के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी ने शान्ति और मैत्री का जो सन्देश दिया था, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष को रोकने की दिशा में अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को उल्लेखनीय सफलता मिली है। उन्होंने विभिन्न धर्मों और विश्वासों के मध्य समन्वय स्थापित कराने का प्रयास किया है। यही आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है।

विश्व-शान्ति के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान

अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों के मत में आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से विश्व-शान्ति और सद्भावना के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान किया है। हिंसा की दहकती हुई ज्वाला पर वे अहिंसा का शीतल जल छिड़क रहे हैं। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन अब केवल भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका प्रसार विदेशों में भी हो गया है। हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण करके आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत का जो सन्देश दिया है, उससे राष्ट्र के चारित्रिक उत्थान में मूल्यवान् सहयोग मिला है। अगर संसार के सभी भागों में लोग अणुव्रतों को ग्रहण करें तो युद्ध की सम्भावना बहुत अंशों तक समाप्त हो जाएगी। विश्व-युद्ध को रोकने के लिए आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत एक अमोघ अस्त्र है। यूरोप में चलने वाले 'नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन' की तुलना में अणुव्रत आन्दोलन का महत्त्व अधिक है। अगर संसार के विशिष्ट राजनीतिज्ञ अणुव्रतों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करें तो युद्ध का निवारण करना आसान हो सकता है। कैनेडी, मैकमिलन, दगाल और ख्रुश्चेव जैसे राजनीतिज्ञ जिस दिन अणुव्रत ग्रहण कर लेंगे, उसी दिन युद्ध की सम्भावना समाप्त हो जायेगी।

०

चरैवेति चरैवेति की साकार प्रतिमा

श्री आनन्द विद्यालंकार
सहसम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

'चरैवेति' का आदि और सम्भवतः अन्तिम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में हुआ है। उसमें इन्द्र के मुख से राजपुत्र रोहित को यह उपदेश दिलाया गया है कि पश्य सूर्यस्य श्रमाणं यो न तन्द्रयते चरन्। चरैवेति चरैवेति। इसका अर्थ है—'हे रोहित ! तू सूर्य के श्रम को देख। वह चलते हुए कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए तू चलता ही रह, चलता ही रह।' यहाँ चलता ही रह' का निगूढ़ार्थ है कि 'तू जीवन में निरन्तर श्रम करता रह।' इन्द्र ने इस प्रकरण में सूर्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे सुन्दर और सत्य अन्य कोई उदाहरण नहीं हो सकता। इस समस्त ब्रह्माण्ड में सूर्य ही सम्भवतः एक ऐसा भासमान एवं विश्व-कल्याणकर पिण्ड है, जिसने सृष्टि के आरंभ से अपनी जिस आदि-अनन्त यात्रा का आरम्भ किया है, वह आज भी निरन्तर जारी है। इस ब्रह्माण्ड में गतिमान पिण्ड और भी हैं, परन्तु जो गति पृथ्वी पर जीवन की जनक तथा प्राणिमात्र की सर्जक है, उसका स्रोत सूर्य ही है। वह सूर्य कभी नहीं थकता। अपने अन्तहीन पथ पर अनालस-भाव से वह निरन्तर गतिमान है। श्रम का एक अतुलनीय प्रतीक है वह ! 'चरैवेति' अपने सम्पूर्ण रूप में उसी में साकार हुआ है।

जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि

सूर्य के लिए जो सत्य है, वह इस युग में इस पृथ्वी पर आचार्यश्री तुलसी के लिए भी सत्य है। जोधपुर-स्थित लाडनूं नगर के एक सामान्य परिवार में जन्म-प्राप्त यह पुरुष शारीरिक दृष्टि से भले ही सूर्य की तरह विशाल एवं भासमान न हो, परन्तु उसका जो अन्तर्मन और प्रखर बुद्धि है, उसकी तुलना सूर्य से सहज ही की जा सकती है। उसके मानसिक ज्योतिर्पिण्ड ने अपने

वैज्ञानिक जगत में अमरत्वकारी किरणों का जो विकिरण प्रारम्भ किया है, उसका कोई अन्त नहीं है। वह अविराम चालू है। भौतिक शरीर जरा-मरण और व्याधिग्रस्त है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अविराम श्रम से यह सिद्ध कर दिया है कि काल क्रम के अनुसार जरा-मरण उन्हें भले ही आत्मसात् कर लें, परन्तु व्याधि उन्हें आजीवन स्पर्श नहीं करेगी। जीवन में यह कितनी बड़ी वैयक्तिक उपलब्धि है! कितना महान् आदर्श है उस मानव-समाज के लिए, जिसका भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण भी इसमें ही निहित है—नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति।

भाग्य और श्रम दोनों ही मानव की अनमोल निधि हैं। इनमें से एक सहज प्राप्त है और दूसरी यत्न साध्य। भाग्य की महिमा संसार में कितनी ही दृष्टिगोचर होती हो और भाग्य बलात् सर्वत्र पर मानव का कितना ही प्रबल विश्वास हो, परन्तु श्रम की जो गरिमा है, उसकी तुलना उससे नहीं की जा सकती। भाग्य तो परोपजीवी है और श्रम भाग्य का निर्माता। यह श्रम का ही प्रताप है, जिससे धरती शस्यश्यामला होती है और मनुज महिमा को प्राप्त होता है। संसार में जो कुछ सुख समृद्धि दृष्टिगोचर है, उसके पीछे यदि कोई सबल शक्ति है तो वह श्रम ही है। नितान्त वन्य जीवन से उन्नति और विकास के जिस स्वर्ण शिखर पर मानव आज खड़ा है, वह श्रम की महिमा का स्वयं-भावी प्रतीक है। जिस श्रम में इतनी शक्ति हो और जो सूर्य की तरह उस शक्ति का सागर हो, उससे अधिक 'चरैवेति' की साकार प्रतिमा अन्य कौन हो सकता है? आचार्यश्री तुलसी ने अपने अब तक के जीवन से यह सिद्ध कर दिया है कि श्रम ही जीवन का सार है और श्रम में ही मानव की मुक्ति निहित है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने बाल्यकाल से जो अथक श्रम किया है, उसके दो रूप हैं—ज्ञान प्राप्ति और जनकल्याण। बालक तुलसी जब दस वर्ष के भी नहीं थे, तभी से ज्ञानार्जन की दुर्दमनीय अभिलाषा उनमें विद्यमान थी। अपने बाल्यकाल के संस्मरणों में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—'अध्ययन में मेरी सदा से बड़ी रुचि रही, किसी भी पाठ को कण्ठस्थ कर लेने की मेरी आदत थी। धर्म-सम्बन्धी अनेक पाठ मैंने बचपन में ही कण्ठाग्र कर लिये थे।' अध्ययन के प्रति उनकी तीव्र लालसा और श्रम का ही परिणाम था कि ग्यारह वर्ष की अल्प वय में तेरापंथ में दीक्षित होने के बाद दो वर्ष की अवधि में ही इतने

पारगत हो गए कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया। उनकी यह ज्ञान-यात्रा केवल अपने लिए नहीं, अपितु दूसरों के लिए भी थी। निरन्तर श्रम के परिणामस्वरूप वे स्वयं तो संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित हो ही गए, अपितु उन्होंने एक ऐसी शिष्य-परम्परा की स्थापना भी की, जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण उन्नति की है। उनमें से अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक, ख्यातनामा लेखक, श्रेष्ठ कवि तथा संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड उद्भट विद्वान् हैं।

आचार्यश्री की स्मृति-शक्ति तो अद्भुत एवं सहजग्राही है ही, परन्तु उनकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती के रूप में जो बीस हजार श्लोक विद्यमान हैं, वे उठते-बैठते निरन्तर उनके श्रम-साध्य पारायण का ही परिणाम है। उनमें जो कवित्व और कुशल वक्तृत्व प्रकट हुआ है, उसके पीछे श्रम की कितनी शक्ति छिपी है, इसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। ब्रह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के दस बजे तक का उनका समस्त समय ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान में ही बीतता है। भगवान् महावीर के 'एक क्षण को भी व्यर्थ न गँवाओ' के आदर्श को उन्होंने साक्षात् अपने जीवन में उतारा है। स्वयं की चिन्ता न कर सदा दूसरों की चिन्ता की है। वे प्रायः कहा करते हैं कि 'दूसरों को समय देना अपने को समय देने के समान है। मैं अपने को दूसरों से भिन्न नहीं मानता।' जिस पुरुष की समय और श्रम के प्रति यह भावना हो और जो स्वयं ज्ञान का गोमुख होकर ज्ञान की जाह्नवी बहा रहा हो; उससे अधिक 'चरैवेति' को सार्थक करने वाला कौन है? उपदेष्टा इन्द्र को कभी स्वप्न भी नहीं हुआ होगा कि किसी काल में एक ऐसा महापुरुष इस पृथ्वी पर जन्म लेगा जो उसका मूर्तिमन्त उपदेश होगा।

सर्वतः अग्रणी सम्प्रदाय

आचार्यश्री तुलसी के तेरापंथ का आचार्यत्व ग्रहण करने से पूर्व, अधिकांश साध्वियां बहुत अधिक शिक्षित नहीं थीं। यह आचार्यश्री तुलसी ही थे, जिन्होंने उनके अन्दर ज्ञान का दीप जलाया। जिस समय उन्होंने साध्वियों का विद्यारम्भ किया था तो केवल तेरह शिष्याएँ थीं; परन्तु आज उनकी संख्या दो सौ से अधिक है और वे विभिन्न विषयों का अध्ययन कर रही हैं। इतना

ही नहीं, उन्होंने शिक्षा पद्धति में भी संशोधन किये। पाठ्यक्रम को उन्होंने तीन भागों में बांट दिया—प्रथम में उन्होंने दर्शन, साहित्य, व्याकरण, शब्द-कोश, इतिहास, गणित, ज्योतिष तथा विभिन्न कला एवं भाषाओं के ज्ञान की व्यवस्था की; दूसरे में जैन धर्म की शिक्षा दी तथा तीसरे में धर्म-ग्रन्थों के ज्ञान की। साधु-साध्वियों के बौद्धिक एवं मानसिक स्तर को उन्नत करने के उद्देश्य से प्रवचन, लेखन, कविता-पाठ और धार्मिक तथा दार्शनिक वाद-विवादों की व्यवस्था भी की। ग्यारह वर्ष तक वे निरन्तर ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान की पवित्र प्रवृत्तियों में संलग्न रहे। इस अद्भुत श्रम का ही यह फल है कि तेरापंथ आज भारत के सर्व. अग्रणी सम्प्रदायों में एक है।

ज्ञान के क्षेत्र में आचार्यश्री तुलसी ने जो महान् कार्य किया है, उसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष और भी है और वह है—*जैन धर्म ग्रन्थों—आगमों पर उनका* अनुसंधान। ये आगम भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह हैं। वे ज्ञान के भण्डार हैं; परन्तु भगवान् महावीर के निर्वाण के उत्तरकालीन पच्चीस सौ वर्ष के समय प्रवाह ने इन आगमों में अनेक स्थलों पर दुर्बोध्यता उत्पन्न कर दी है। आचार्यश्री तुलसी के पथ-प्रदर्शन में अब इन आगमों का हिन्दी-अनुवाद तथा शब्दकोष तैयार किया जा रहा है। *जिस दिन यह कार्य पूर्णतः सम्पन्न हो जाएगा, उस दिन संसार यह जान सकेगा कि तप:पूत इस व्यक्ति में श्रम के प्रति कैसी अटूट भक्ति है!* यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि अपनी ज्ञान साधना से आचार्यश्री तुलसी ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे श्रम के ही दूसरे रूप हैं।

आचार्यश्री तुलसी की दिनचर्या भी अविराम श्रम का एक उदाहरण है। वे ब्रह्म मुहूर्त में ही शय्या छोड़ देते हैं। एक-दो घण्टे तक आत्म-चिन्तन और स्वाध्याय के अनन्तर प्रतिक्रमण—व्रत नियमों और प्रतिज्ञाओं का पारायण करते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन उनका प्रिय एवं नियमित व्यायाम है। इसके पश्चात् एक घण्टे से अधिक का समय वे जनता को उपदेश तथा उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करने में व्यतीत करते हैं। भोजनानन्तर विश्राम-काल में *हल्का-फुल्का साहित्य पढ़ते हैं। उसके बाद दो से ढाई घण्टे तक का उनका* समय साधुओं और साध्वियों के अध्यापन में बीतता है। विभिन्न विषयों पर *विभिन्न लोगों से वार्ता के बाद वे दो घण्टे तक मौन धारण करते हैं और* इस

काल में वे पुस्तक-लेखन और अध्ययन करते हैं। सूर्यास्त से पूर्व ही रात्रि का भोजन ग्रहण करने के अनन्तर प्रतिक्रमण और प्रार्थना का कार्यक्रम रहता है। एक घण्टे तक पुनः स्वाध्याय अथवा ज्ञान-गोष्ठी के बाद आचार्यश्री शय्या ग्रहण कर लेते हैं। उनका यह कार्यक्रम घड़ी की सुई की तरह चलता है और उसमें कभी व्याघात नहीं होता। जब तक किसी व्यक्ति में श्रम और वह भी परार्थ के लिए श्रम करने की हार्दिक भावना न हो, तब तक उक्त प्रकार का यन्त्रवत् जीवन असम्भव है।

आचार्यश्री के श्रम का दूसरा रूप है—जन-कल्याण। वैसे तो जो ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान वे करते हैं, वह सब ही जन-कल्याण के उद्देश्य से है; किन्तु मानव को अपने हिरण्मय पाश में बाँधने वाले पापों से मुक्ति के लिए उन्होंने जो देशव्यापी यात्राएँ की हैं और अपने शिष्यों से कराई हैं, उनका जन-कल्याण के क्षेत्र में एक विशिष्ट महत्त्व है। इन यात्राओं से आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध के शिष्यों द्वारा की गई वे यात्राएँ स्मरण हो आती हैं, जो उन्होंने मानवमात्र के कल्याण के लिए की थी। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने इन यात्रारम्भ से पूर्व अपने साठ शिष्यों को पवशील का सन्देश प्रसारित करने का आदेश दिया था, ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने आज से बारह वर्ष पूर्व अपने छः सौ पचास शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"साधुओ और साध्वियो! तुम्हारे जीवन आत्म-मुक्ति और जन-कल्याण के लिए समर्पित हैं। समीप और सुदूर-स्थित गाँवों, कस्बों और शहरों को पैदल जाओ। जनता में नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश पहुँचाओ।" तेरापंथ का जो व्यावहारिक रूप है, उसके तीन अंग हैं—(१) पवित्र एवं साधुतापूर्ण आचरण, (२) भ्रष्टाचार से मुक्त व्यवहार और (३) सत्य में निष्ठा एवं अहिंसक प्रवृत्ति। आचार्यश्री तुलसी ने अपने शिष्यों को जो उक्त आदेश दिया था, उसका तेरापंथ के इसी रूप को जनता-जनार्दन के जीवन में अवतारणा थी।

अणुव्रत चक्र प्रवर्तन

वर्तमान में भारतीय समाज की जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है। प्राचीन आध्यात्मिकता का स्थान नितान्त भौतिकता ने ले लिया है। अन्तर्मुख होने के स्थान पर व्यक्ति सर्वथा बहिर्मुख हो गया है। विलासिता संयम पर

आरूढ़ हो गई है और सर्वत्र भोग और भ्रष्टाचार का ही वातावरण दृष्टिगोचर होता है। यह स्थिति किसी भी समाज के लिए बड़ी दयनीय है। इस दुरवस्था से मुक्ति के लिये ही आचार्यश्री ने जनता में अणुव्रत चक्र प्रवर्तन का निश्चय किया। यह अणुव्रत ही वस्तुतः तेरापथ का व्यावहारिक रूप है। इस 'अणुव्रत' शब्द में अणु का अर्थ है—सबसे छोटा और व्रत का अर्थ है—वचन—दृढ़ सकल्प। जब व्यक्ति इस व्रत को ग्रहण करेगा तो उससे यही अभिप्रेत होगा कि उसने अन्तिम मजिल पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी पर पैर रख दिया है। इस अणुव्रत के विभिन्न रूप हो सकते हैं और ये सब रूप पूर्णता के ही आरम्भक बिन्दु हैं। आचार्यश्री तुलसी ने इसी अणुव्रत को देश के सुदूर भागों तक पहुँचाने के लिए अपने शिष्यों को आज से बारह वर्ष पूर्व आदेश दिया था। तब से लेकर अब तक ये शिष्य शिमला से मद्रास तथा बगाल से कच्छ तक सैकड़ों गाँवों और शहरों में पैदल पहुँचकर अणुव्रत की दुन्दु भी बजा चुके हैं। इस अवधि में आचार्यश्री ने भी अणुव्रत के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए जो अत्यन्त आयासकर एव दीर्घ यात्राएँ की हैं, वे उनके सूर्य की तरह अविराम श्रम की शानदार एवं अविस्मरणीय प्रतीक हैं। राजस्थान के छापर गाँव से उन्होंने अपनी अणुव्रत-यात्रा का आरम्भ किया। उसके बाद वे जयपुर आये और वहाँ से राजधानी दिल्ली। दिल्ली से उन्होंने पैदल-ही पैदल पजाब में भिवानी, हाँसी, सगरूर, लुधियाना, रोपड़ और अम्बाला की यात्रा की। इसके बाद राजस्थान होते हुए वे बम्बई, पूना और हैदराबाद के समीप तक गए। वहाँ से लौटकर उन्होंने मध्यभारत के विभिन्न स्थानों तथा राजस्थान की पुन यात्रा की। इसी प्रकार उन्होंने उत्तरप्रदेश, बिहार और बगाल के लम्बे यात्रा-पथ तय किये।

भारत के आध्यात्मिक स्रोत

आचार्यश्री तुलसी की ये यात्राएँ चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में अपना अभूतपूर्व स्थान रखती हैं। उनकी तुलना अनैतिकता के विरुद्ध निरन्तर जारी धर्मयुद्धों से की जा सकती है। अपने शिष्यों समेत स्वयं यह महान् एव अविराम श्रम करके आचार्यश्री तुलसी ने समस्त देश में शान्ति एव कल्याण का एक ऐसा पवन प्रवाहित किया है, जिसकी शीतलता जनमानस को स्पर्श कर रही है और

जो अपने में सागरं सागरोपम. की तरह अनुपम है। जो आध्यात्मिक सन्तोष और आत्मविश्वास की भावना इन यात्राओं के परिणामस्वरूप जनता को प्राप्त हुई, उसने समाज को चरित्र के चारु, किन्तु कठिन पथ पर चलने के लिए नवीन प्रेरणा प्रदान की है। अब तक लगभग एक करोड़ व्यक्ति अणुव्रत-आन्दोलन के सम्पर्क में आ चुके हैं और एक लाख से अधिक व्यक्तियों ने उससे प्रभावित होकर बुरी आदतों का परित्याग कर दिया है। आचार्यश्री तुलसी सूर्य की तरह ही न केवल दिव्याग हैं, अपितु सूर्य की तरह ही उनकी समस्त दिनचर्या है। वे भारत के आध्यात्मिक स्रोत हैं। उन्होंने अपने चैतन्य काल से अब तक जो कार्य किया है, उस सब पर उनके श्रान्तिहीन श्रम की छाप विद्यमान है। वह जनता जनार्दन का एक ऐसा इतिहास है जिसकी तुलना धर्म-संस्थानों के इतिहास से की जा सकती है। इस सकाम संसार में वह निष्काम दीप की तरह जल रहा है। जीवन का एक पल भी ऐसा नहीं है, जिसमें उन्होंने अपनी ज्योति का दान दूसरों को न दिया हो। वह 'चरैवेति' की तरह एक ऐसी साक्षात् प्रतिमा है जिसके सम्मुख सिर सहज ही श्रद्धा से नत हो जाता है।

o

प्रथम दर्शन और उसके बाद

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

वे प्रथम दर्शन मैं कभी भूल नहीं सकता। राजस्थान के कुछ स्थानों का दौरा करने के बाद मैं जयपुर पहुँचा। उन दिनों जयपुर के जैन समाज में कुछ सामाजिक संघर्ष चल रहा था। जयपुर पहुँचने पर उसके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक थी। जैन समाज के साथ मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध था। अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा के प्रधानमन्त्री लाला प्रसादीलालजी पाटनी, कई वर्ष हुए, 'जैन-दन्डनम्' नामक पुस्तक लेकर मेरे पास आये। पुस्तक में जैन समाज पर कुछ गर्हित आक्षेप किये गए थे। उनके कारण वे उसको सरकार द्वारा जब्त करवाना चाहते थे। मेरे प्रयत्न से उनका वह कार्य हो गया। इस साधारण-सी घटना के कारण मेरा अखिल भारतीय दिगम्बर महासभा के माध्यम से जैन समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ और पाटनीजी के अनुग्रह से वह निरन्तर बढ़ता ही चला गया। इसी कारण उस संघर्ष के बारे में मेरे हृदय में जिज्ञासा पैदा हुई।

मैंने एक मित्र से उसका कारण पूछा; वे कुछ उदासीन भाव से बोले कि आपको इसमें क्या दिलचस्पी है। मैंने विनोद में उत्तर दिया कि पत्रकार के लिए हर विषय में रुचि रखनी आवश्यक है। इस पर भी उन्होंने मुझे टालना ही चाहा। कुछ आग्रह करने पर उन्होंने कहा कि जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत पुराना संघर्ष चला आता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में तो फौजदारी तथा मुकदमेबाजी तक का लम्बा सिलसिला कई वर्षों तक जारी रहा। इसी प्रकार इन सम्प्रदायों का स्थानकवासियों तथा तेरापंथियों के साथ और उनका आपस में भी मेल नहीं बैठता। यहाँ तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मास चल रहा है और उनके प्रवचनों के प्रभाव के कारण दूसरे सम्प्रदायों के लोग उनके प्रति ईर्ष्या करने लगे हैं। उनका आपस का पुराना वैर नये सिरे से जाग उठा है।

मेरी दिलचस्पी के कारण उन्होंने स्वयं ही यह प्रस्ताव किया किया कि क्या आप आचार्यश्री के दर्शन करने के लिए चल सकेंगे ? मैंने कहा कि मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती है ! एक आचार्य महापुरुष के दर्शनों से कुछ लाभ ही मिलेगा। उन्होंने कुछ समय बाद मुझे सूचना दी कि दोपहर को दो बजे बाद का समय ठीक रहेगा।

प्रथम दर्शन

लगभग अढ़ाई बजे मैं उनके साथ उस पण्डाल में पहुंच गया जिसमें आचार्यश्री के प्रवचन हुआ करते थे। मैं अपने मित्र के साथ अजनबी-सा बना हुआ उपस्थित लोगों की पीछे की पंक्ति में एक कोने में जा बैठा। यदि मैं भूलता नहीं, तो पूज्य आचार्यश्री उस समय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री दौलतमल भण्डारी के साथ बातचीत करने में संलग्न थे। आचार्यश्री की निर्मल स्वच्छ और पवित्र वेश-भूषा तथा उनके तेजस्वी चेहरे पर कुछ अद्भुत-सा आकर्षण दीख पड़ा। मैं चुपचाप २०-२५ मिनट बैठ कर चला आया। मैंने कोई बातचीत उस समय नहीं की और न करने की मुझे इच्छा ही हुई। कारण केवल यह था कि मैं उनकी बातचीत में खलल पैदा नहीं करना चाहता था। परन्तु जैसे ही उठ कर मैं चला, पूज्य आचार्यश्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी और मुझे ऐसे लगा जैसे कि उनकी आंखों ने मुझे घेर लिया हो। फिर भी चुपचाप वहां से लौट आया। वह थे पहले दर्शन, जिनका चित्र मेरे सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है।

जयपुर से प्रवास करने के बाद आचार्यश्री का दिल्ली में आगमन हुआ। अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया जा चुका था। नैतिक चरित्र-निर्माण के, अणुव्रत आन्दोलन के उद्देश्य को लेकर आचार्यश्री अपने संघ के साथ राजधानी पधारे थे। इसी कारण आचार्यश्री के पधारने की विशेष चर्चा थी। नई दिल्ली होते हुए अपने संघ के साथ आचार्यश्री ने जब [illegible]-दरवाजे की ओर से राजधानी की पुरानी नगरी में प्रवेश किया और [illegible] चांदनी चौक होते हुए आगे [illegible] बाजार पहुंचे तो दर्शक यह दृश्य देख कर दंग रह गए। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि महाकवि तुलसी के [illegible] सब परिहरि करहिं विचार [illegible] के अनुसार ओर-छोर का [illegible]

से राजहंसों की टोली राजधानी में अवतरित हुई हो। सचमुच भ्रष्टाचार, चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट तथा अनैतिकता के वातावरण को शुद्ध व पवित्र करने के लिए आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन का नैतिक सन्देश दूध को दूध और पानी को पानी कर देने वाला ही था।

तीन घोषणाएँ

नयाबाजार में पदार्पण करने के बाद जो पहला प्रवचन हुआ, उसके कारण मेरे लिए आचार्यश्री का राजधानी की ऐतिहासिक नगरी में शुभागमन एक अनोखी ऐतिहासिक घटना थी। वह प्रवचन मेरे कानों में सदा ही गूँजता रहता है और उसके कुछ शब्द कितनी ही बार उद्धृत करने के कारण मेरे लिए शास्त्रीय वचन के समान महत्त्वपूर्ण बन गये हैं। आचार्यश्री की पहली घोषणा यह थी कि यह तेरापंथ किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं है। यह प्रभु का पथ है। इसीलिए इसके प्रवर्त्तक आचार्यश्री भिक्षुजी ने यह कहा कि यह मेरा नहीं, प्रभु! तेरा पंथ है। इस घोषणा द्वारा आचार्यश्री ने यह व्यक्त किया कि वे किसी भी संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित न होकर, राष्ट्र-कल्याण तथा मानव-हित की भावना से प्रेरित होकर राजधानी आये हैं।

दूसरी घोषणा आचार्यश्री की यह थी कि मैं अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा उन राष्ट्रीय नेताओं के उस आन्दोलन को बलशाली तथा प्रभावशाली बनाना चाहता हूँ, जो राष्ट्रीय जीवन को ऊँचा उठा कर उसमें पवित्रता का संचार करने में लगे हैं।

इसी प्रकार तीसरी घोषणा आचार्यश्री ने यह की थी कि मैं अपने समस्त साधु-संघ तथा साध्वी-संघ को राष्ट्र के नैतिक उत्थान के इस महान् कार्य में लगा देना चाहता हूँ।

इन घोषणाओं का स्पष्ट अभिप्राय यह था कि जिस नैतिक नव-निर्माण के महान् आन्दोलन का सूत्रपात राजस्थान के सरदारशहर में किया गया था, उसको राष्ट्रव्यापी बना देने का शुभ सङ्कल्प करके आचार्यश्री राजधानी पधारे थे। स्थानीय समाचारपत्रों में इसी कारण आचार्यश्री के शुभागमन का हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन किया गया। मैं उन दिनों में दैनिक 'अमर-भारत' का सम्पादन करता था। इन घोषणाओं से प्रभावित होकर मैंने 'अमर भारत' को

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख पत्र बना दिया और उसके लिए भारी-से-भारी लोकापवाद को सहन करते हुए मैं अपने इस व्रत पर अडिग रहा।

उपेक्षा, उपहास और विरोध

श्रेयांसि बहुविघ्नानि की कहावत आचार्यश्री के इस शुभागमन और महान् नैतिक आन्दोलन पर भी चरितार्थ हुई। आन्दोलन को उपेक्षा, उपहास, भ्रम और विरोध का प्रारम्भ मे सामना करना ही पडता है। फिर उसके लिए सफलता की झाँकी दीख पडती है। अणुव्रत-आन्दोलन को उपेक्षा, उपहास का इतना सामना नहीं करना पडा, जितना कि विरोध का। इस विरोधपूर्ण वातावरण मे ही अणुव्रत-आन्दोलन के प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन दिल्ली मे टाउन हाल के सामने किया गया। न केवल राजधानी मे, अपितु समस्त देश के कोने-कोने में उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठी। कुछ प्रतिक्रिया विदेशो मे भी हुई। हमारे देश का कदाचित् ही कोई ऐसा नगर बचा होगा, जिसके प्रमुख समाचारपत्रों मे अणुव्रत-आन्दोलन और सम्मेलन की चर्चा प्रमुख रूप से नहीं की गई और उस पर मुख्य लेख नहीं लिखे गये। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अन्य नगरों के समाचारपत्रों ने बड़ी-बडी आशाओ से आन्दोलन एव सम्मेलन का स्वागत किया। बात यह थी कि अनैतिकता और भ्रष्टाचार दूसरे महायुद्ध की देन है और इन बुराइयों से सारे ही विश्व का मानव-समाज पीडित है। वह इनसे मुक्ति पाने के लिए बेचैन है। इससे भी कहीं अधिक विभीषिका विश्व के मानव के सिर पर तीसरे सम्भावित महायुद्ध की काली घटाओं के रूप मे मडरा रही है। तब ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कि आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा मानव की इस पीड़ा व बेचैनी को ही प्रगट किया हो और उसको दूर करने के लिए एक सुनिश्चित अभियान शुरू किया हो, इसीलिए उसका जो विश्वव्यापी स्वागत हुआ, वह सर्वथा स्वाभाविक था।

सबसे बड़ा आक्षेप

इस विश्व-व्यापी स्वागत के बावजूद राजधानी के अनेक क्षेत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन को सन्देह एवं आशका से देखा जाता रहा और उसको अविश्वास

तथा विरोध की सभी घाटियों में से गुजरना पड़ा । विरोधियों और आलोचकों का सबसे बड़ा आरोप यह था कि आचार्यश्री एक पंथ-विशेष के आचार्य हैं और यह पंथ संकीर्ण साम्प्रदायिकता, अनुदारता तथा असहिष्णुता से ओत-प्रोत है । आन्दोलन का सूत्रपात उस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किया गया है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आचार्य को पुजवाने के लिए उसमें लगे हुए हैं । यह भी कहा जाता था कि इस सम्प्रदाय की सारी व्यवस्था अधिनायकवाद पर आधारित है । उसके आचार्य उसके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिनायक हैं । वर्तमान प्रजातन्त्र-युग में अधिनायकवाद पर आश्रित आन्दोलन बड़ा खतरनाक है । इसी प्रकार के तरह-तरह के आरोप व आक्षेप आन्दोलन पर किये जाते थे । तेरापंथी सम्प्रदाय की मान्यताओं व मर्यादाओं के सम्बन्ध में संकुचित व संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार व विरोध करने वाले इसी पक्षपातपूर्ण चश्मे से अणुव्रत-आन्दोलन को देखते थे और उस पर मनमाने आरोप व आक्षेप करने में तनिक भी संकोच न करते थे । तरह-तरह के हस्तपत्रक छाप कर बांटे गए और दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर भी छाप कर चिपकाये गए । विरोध करने वालों ने भरसक विरोध किया और आन्दोलन को हानि पहुँचाने में कुछ भी कसर उठा न रखी ।

इस बवण्डर का जो प्रभाव पड़ा, उसको प्रकट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए । कुछ साथियों का यह विचार हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को देकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । उनका यह अनुमान था कि राष्ट्रपतिजी नैतिक नव-निर्माण के महत्त्व को अनुभव करने वाले महानुभाव हैं । उनको यदि इस नैतिक आन्दोलन का परिचय दिया गया तो अवश्य ही उनकी सहानुभूति प्राप्त की जा सकेगी । श्रीमान् सेठ मोहनलालजी कठोतिया के साथ मैं राष्ट्रपति-भवन गया और उनके निजी सचिव से चर्चा-वार्ता हुई, तो उसने स्पष्ट कह दिया किया कि यह आन्दोलन विशुद्ध रूप से साम्प्रदायिक है और ऐसे किसी साम्प्रदायिक आन्दोलन के लिए राष्ट्रपति की सहानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती । मैंने अनुरोध किया कि राष्ट्रपतिजी से एक बार मिलने का अवसर तो आप दें, परन्तु वे उसके लिए भी सहमत न हुए । यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए; यह दिखाने के लिए कि आचार्यश्री को राजधानी में

कैसे विरोध, भ्रम, उदासीनता तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में अणुव्रत-आन्दोलन की नाव को खेना पड़ा। इसके विपरीत जिस धैर्य, संयम, साहस, उत्साह विश्वास तथा निष्ठा से काम लिया गया, उसका परिचय इतने से ही मिल जाना चाहिए कि विरोधी आन्दोलन के उत्तर में एक भी हस्त-पत्रिका प्रकाशित नहीं की गई। एक भी वक्तव्य समाचारपत्रों को नहीं दिया गया और किसी भी कार्यकर्ता ने अपने किसी भी व्याख्यान में उसका उल्लेख तक नहीं किया—प्रतिवाद करना तो बहुत दूर की बात थी। जबकि आचार्यश्री के प्रभाव, निरीक्षण और नियन्त्रण में इस अपूर्व धैर्य और अपार संयम से कार्यकर्ता आन्दोलन के प्रति अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न थे, तब यह तो अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी कि पूज्यश्री के प्रवचनों में कभी कोई ऐसी चर्चा की जाती। अणुव्रत-सम्मेलन के अधिवेशन में भी कुछ विघ्न डालने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सम्पूर्ण अधिवेशन में विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गई और प्रतिरोध अथवा प्रतिरोध का एक शब्द भी नहीं कहा गया। आन्दोलन अपने सुनिश्चित मार्ग पर अव्याहत गति से निरन्तर आगे बढ़ता गया।

अधिकाधिक सफलता

आचार्यश्री के उस प्रथम दिल्ली-प्रवास में राजधानी के कोने-कोने से प्रत्येक व्रत-आन्दोलन का सन्देश पूज्यश्री के प्रवचनों द्वारा पहुँचाया गया और दिल्ली से प्रस्थान करने से पूर्व ही उसके प्रभाव के अनुकूल आसार भी चारों ओर दीखने लग गए थे। राजधानी के अतिरिक्त आसपास के नगरों में आन्दोलन का सन्देश और भी अधिक तेजी से फैला। यह प्रकट हो गया कि तपस्या और साधना निरर्थक नहीं जा सकती। विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा अपना रंग दिखाये बिना नहीं रह सकते। रचनात्मक और नव-निर्माणात्मक प्रवृत्तियाँ असफल बनाने के लिए कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाए, वे असफल नहीं हो सकतीं। अणुव्रत-आन्दोलन का १०-१२ वर्ष का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कोई भी लोक-कल्याणकारी शुभ कार्य, प्रवृत्ति अथवा आन्दोलन असफल नहीं हो सकता। राजधानी की ही दृष्टि से विचार किया जाए तो आचार्यश्री की प्रथम दिल्ली-यात्रा पहली की अपेक्षा दूसरी और दूसरी की अपेक्षा तीसरी और तीसरी की अपेक्षा चौथी अधिकाधिक सफल, सार्थक और प्रभावशाली रही है। रा

पति-भवन मन्त्रियों की कोठियों, प्रशासकीय कार्यालयों और व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थानों एवं शहर के गली-कूचों व मुहल्लों में अणुव्रत-आन्दोलन की गूंज ने एक-सरीखा प्रभाव पैदा किया। उसको साम्प्रदायिक बता कर अथवा किसी भी अन्य कारण से उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी और उसके प्रभाव को दबाया नहीं जा सका। पिछले बारह वर्षों में पूज्य आचार्यश्री ने दक्षिण के सिवाय प्रायः सारे ही भारत का पाद-विहार किया है और उसका एकमात्र लक्ष्य नगर-नगर, गाँव-गाँव तथा जन-जन तक अणुव्रत-आन्दोलन के सन्देश को पहुँचाना रहा है। राजस्थान से उठी हुई नैतिक निर्माण की पुकार पहले राजधानी मे गूंजी और उसके बाद सारे देश में फैल गई। राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत, खानदेश, बम्बई और पूना; इसी प्रकार दूसरी दिशा मे उत्तरप्रदेश बिहार तथा बंगाल और कलकत्ता की महानगरी मे पधारने पर पूज्य आचार्यश्री का स्वागत तथा अभिनन्दन जिस हार्दिक समारोह व धूमधाम से हुआ, वह सब अणुव्रत-आन्दोलन की लोकप्रियता, उपयोगिता और आकर्षण शक्ति का ही सूचक है।

मैंने बहुत समीप से पूज्य आचार्यश्री के व्यक्तित्व की महानता को जानने व समझने का प्रयत्न किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के साथ भी मेरा बहुत निकट-सम्पर्क रहा है। मुझे यह गर्व प्राप्त है कि पूज्यश्री मुझे 'प्रथम अणुव्रती' कहते हैं। आचार्यश्री के प्रति मेरी भक्ति और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति मेरी अनुरक्ति कभी भी क्षीण नहीं पड़ी। आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति विश्वास और निष्ठा मे उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है। महात्मा गांधी ने देश में नैतिक नव-निर्माण का जो सिलसिला शुरू किया था, उसको आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन ने निरन्तर आगे ही बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया है। यह भी कुछ अत्युक्ति नहीं है कि नैतिक नव-निर्माण की दृष्टि से पूज्य आचार्यश्री ने उसे और भी अधिक तेजस्वी बनाया है। चरित्र-निर्माण हमारे राष्ट्र की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या है। उसको हल करने में अणुव्रत-आन्दोलन जैसी प्रवृत्तियां ही प्रभावशाली ढंग से सफल हो सकती हैं, यह एक-मत से स्वीकार किया गया है। राष्ट्रीय नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रवक्ताओं और लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाले समाचार-पत्रों ने एक स्वर से उसके महत्त्व और उपयोगिता को स्वीकार

किया है। सन्त विनोबा का भूदान और पूज्य आचार्यश्री का अणुव्रत-आन्दोलन, दोनों के पाद-विहार के साथ-साथ गंगा और जमुना की पुनीत धाराओं की तरह सारे देश मे प्रवाहित हो रहा है। दोनों की अमृतवाणी सारे देश में एक जैसी गूंज रही है और भौतिकवाद की घनी काली घटाओं मे बिजली की रेखा की तरह चमक रही है। मानव-समाज ऐसे ही संत-महापुरुषों के नव-जीवन के आशामय सन्देशों के सहारे जीवित रहता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में जब अणुबमों और महाविनाशकारी साधनों के रूप में उसके द्वार पर मृत्यु को खड़ा कर दिया गया है, तब ऐसे संत महापुरुषों के अमृतमय सन्देश की और भी अधिक आवश्यकता है। आचार्य-प्रवर श्री तुलसी और संत-प्रवर श्री विनोबा इस विनाशकारी युग में नव-जीवन के अमृतमय सन्देश के ही जीवन्त प्रतीक हैं। धन्य हैं हम, जिन्हें ऐसे संत महापुरुषों के समकालीन होने और उनके नैतिक नव-निर्माण के अमृत सन्देश सुनने का सौभाग्य प्राप्त है।

अणुव्रत-आन्दोलन के पिछले ग्यारह-बारह वर्षों का जब मैं सिंहावलोकन करता हूँ, तब मुझे सबसे अधिक आशाजनक जो आसार दीख पड़ते हैं, उनमें उल्लेखनीय हैं—आचार्यश्री के साधु संघ का आधुनिकीकरण। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि साधु-संघ के अनुशासन, व्यवस्था अथवा मर्यादाओं में कुछ अन्तर कर दिया गया है। वे तो मेरी दृष्टि में और भी अधिक दृढ़ हुई हैं। उनकी दृढ़ता के बिना तो सारा ही खेल बिगड़ सकता है, इसलिए शिथिलता की तो मैं कल्पना तक नहीं कर सकता। मेरा अभिप्राय यह है कि आचार्यश्री के साधु-संघ में अपेक्षाकृत अन्य साधु-संघों के सार्वजनिक भावना का अत्यधिक मात्रा में संचार हुआ है और उसकी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक मात्रा मे राष्ट्रोन्मुखी बनी हैं। आचार्यश्री ने जो घोषणा पहली बार दिल्ली पधारने पर की थी, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है। उन्होंने अपने साधु-संघ को जन-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। वह यह कि जितने जनोपयोगी साहित्य का निर्माण पिछले दस-ग्यारह वर्षों में आचार्यश्री के साधु-संघ द्वारा किया गया है और जन-जागृति तथा नैतिक चरित्र-निर्माण के लिए जितना प्रचार-कार्य हुआ है, वह प्रमाण है इस बात का कि समय की माँग को पूरा करने मे आचार्यश्री के साधु-संघ ने अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया है और देश के समस्त साधुओं के सम्मुख लोक सेवा तथा

जन-जागृति के लिए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर दिया है। युग की पुकार सुनने वाली संस्थाएँ ही अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध कर सकती हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आचार्यश्री के तेरापंथ साधु-संघ ने अपने अस्तित्व को पूरी तरह सफल एवं सार्थक सिद्ध कर दिया है।

O

मानवता के उन्नायक

श्री यशपाल जैन
सम्पादक, जीवन साहित्य

आचार्यश्री तुलसी का नाम मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था, लेकिन उनसे पहले-पहल साक्षात्कार उस समय हुआ जबकि वे प्रथम बार दिल्ली आये थे और कुछ दिन राजधानी में ठहरे थे। उनके साथ उनके अन्तेवासी साधु-साध्वियों का विशाल समुदाय था और देश के विभिन्न भागों से उनके सम्प्रदाय के लोग भी बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे।

विभिन्न आलोचनाएँ

आचार्यश्री को लेकर जैन समाज तथा कुछ जैनेतर लोगों में उस समय तरह-तरह की बातें कही जाती थी। कुछ लोग कहते थे कि वह बहुत ही सच्चे और लगन के आदमी हैं और धर्म एवं समाज की सेवा दिल से कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना था कि उनमें नाम की बड़ी भूख है और वह जो कुछ कर रहे हैं, उसके पीछे तेरापंथी सम्प्रदाय के प्रचार की तीव्र लालसा है। मैं दोनों पक्षों की बातें सुनता था। उन सबको सुन-सुन कर मेरे मन पर कुछ अजीब-सा चित्र बना। मैं उनसे मिलना टालता रहा।

अचानक एक दिन किसी ने घर आकर सूचना दी कि आचार्यश्री हमारे मुहल्ले में आये हुए हैं और मेरी याद कर रहे हैं। मेरी याद? मुझे विस्मय हुआ। मैं गया। उनके चारों ओर बड़ी भीड़ थी और लोग उनके चरण स्पर्श करने के लिए एक-दूसरे को ठेल कर आगे आने का प्रयत्न कर रहे थे। जैसे-तैसे उस भीड़ में से रास्ता बना कर मुझे आचार्यश्री जी के पास ले जाया गया। उस भीड़-भाड़ और कोलाहल में ज्यादा बातचीत होना तो कहाँ सम्भव था, लेकिन चर्चा से अधिक जिस चीज की मेरे दिल पर छाप पड़ी, वह था आचार्यश्री का सजीव व्यक्तित्व, मधुर व्यवहार और उन्मुक्तता। हम लोग पहली बार मिले

थे, लेकिन ऐसा लगा मानो हमारा पारस्परिक परिचय बहुत पुराना हो।

उसके उपरान्त आचार्यश्री से अनेक बार मिलना हुआ। मिलना ही नहीं, उनसे दिल खोल कर चर्चाएँ करने के अवसर भी प्राप्त हुए। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें नजदीक से देखता गया, उनके विचारों से अवगत होता गया, उनके प्रति मेरा अनुराग बढ़ता गया। हमारे देश में साधु-सन्तों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। आज भी साधु लाखों की संख्या में विद्यमान हैं; लेकिन जो सच्चे साधु हैं, उनमें से अधिकांश निवृत्ति-मार्गी हैं। वे दुनिया से बचते हैं और अपनी आत्मिक उन्नति के लिए जन-रव से दूर निर्जन स्थान में जाकर बसते हैं। आत्म-कल्याण की उनकी भावना और एकान्त में उनकी तपस्या निःसन्देह सराहनीय है, पर मुझे लगता है कि समाज को जो प्रत्यक्ष लाभ उनसे मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "मेरे लिए मुक्ति सब कुछ त्याग देने में *नहीं है। सृष्टि-कर्ता ने मुझे अगणित बन्धनों में दुनिया के साथ बांध रखा है।*"

आचार्यश्री तुलसी इसी मान्यता के पोषक हैं। यद्यपि उनके सामने त्याग का ऊंचा आदर्श रहता है और वे उसकी ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहते हैं, तथापि वे समाज और उसके सुख-दुख के बीच रहते हैं और उनका अहर्निश प्रयत्न रहता है *कि मानव का नैतिक स्तर ऊंचा उठे, मानव सुखी हो और समूची मानव-जाति मिल-जुल कर प्रेम से रहे। वह एक सम्प्रदाय-विशेष के* आचार्य अवश्य हैं; लेकिन उनकी करुणा संकीर्ण परिधि से आवृत नहीं है। वे सबके हित का चिन्तन करते हैं और समाज-सेवा उनकी साधना का मुख्य अंग है।

गांधीजी कहा करते थे कि समाज की इकाई मनुष्य है और यदि मनुष्य का जीवन शुद्ध हो जाए तो समाज अपने-आप सुधर जाएगा। इसलिए उनका जोर हमेशा मानव की शुचिता पर रहता था। यही बात आचार्यश्री तुलसी के साथ है। वे बार-बार कहते हैं कि हर आदमी को अपनी ओर देखना चाहिए, अपनी दुर्बलताओं को जीतना चाहिए। वर्तमान युग की अशान्ति को देखकर एक बार एक छात्र ने उनसे पूछा—'दुनिया में शान्ति कब होगी?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'जिस दिन मनुष्य में मनुष्यता आ जाएगी।' अपने एक प्रवचन

में उन्होंने कहा—'रोटी, मकान, कपड़े की समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या मानव में मानवता के अभाव की है।'

मानव-हित के चिन्तक

मानव-हित के चिन्तक के लिए आवश्यक है कि वह मानव की समस्याओं से परिचित रहे। आचार्यश्री उस दिशा में अत्यन्त सजग हैं। भारतीय समाज के सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं, राष्ट्र किस संकट से गुजर रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत के क्या-क्या मुख्य मसले हैं, इनकी जानकारी उन्हें रहती है। वस्तुत: बचपन से ही उनका झुकाव अध्ययन और स्वाध्याय की ओर रहा है और जीवन को वे सदा खुली आँखों से देखने के अभिलाषी रहे हैं। अपने उसी अभ्यास के कारण आज उनकी दृष्टि बहुत ही जागरूक रहती है और कोई भी छोटी-बड़ी समस्या उनकी तेज आँखों से बची नहीं रहती।

जैन-धर्मावलम्बी होने के कारण अहिंसा पर उनका विश्वास होना स्वाभाविक है। लेकिन मानवता के प्रेमी के नाते उनका वह विश्वास उनके जीवन की श्वास बन गया है। हिंसा के युग में लोग जब उनसे कहते हैं कि आणविक अस्त्रों के सामने अहिंसा कैसे सफल हो सकती है तो वे साफ जवाब देते हैं, "लोगों का ऐसा कहना उनका मानसिक भ्रम है। आज तक मानव-जाति ने एक स्वर से जैसा हिंसा का प्रचार किया है, वैसा यदि अहिंसा का करती तो स्वर्ग धरती पर उतर आता। ऐसा नहीं किया गया, फिर अहिंसा की सफलता में सन्देह क्यों?"

आगे वे कहते हैं—"विश्व शान्ति के लिए अणुबम आवश्यक है ऐसा कहने वालों ने यह नहीं सोचा कि यदि वह उनके शत्रु के पास होता तो।"

धर्म-पुरुष

आचार्यश्री की भूमिका मुख्यत: आध्यात्मिक है। वे धर्म-पुरुष हैं। धर्म के प्रति आज की बढ़ती विमुखता को देख कर वे कहते हैं, "धर्म से कुछ लोग चिढ़ते हैं, किन्तु वह भूल पर हैं। धर्म के नाम पर फैली हुई बुराइयों को मिटाना आवश्यक है, न कि धर्म को। धर्म जन-कल्याण का एकमात्र साधन है।"

इसी बात को आगे समझाते हुए वे कहते हैं—"जो लोग धर्म त्याग देने की बात कहते हैं, वे अनुचित करते हैं। एक आदमी गन्दे किनारे पानी से बीमार हो गया। अब वह प्रचार करने लगा कि पानी मत पीओ, पानी पीने से बीमारी होती है। क्या यह उचित है? उचित यह होता कि वह अपनी भूल को पकड़ लेता और गन्दा पानी न पीने को कहता। धर्म का त्याग करने की बात कहने वालों को चाहिए कि वे जनता को धर्म के नाम पर फैले हुए विकारों को छोड़ना सिखाएं, धर्म छोड़ने की सीख न दें।"

धर्म क्या है इसको बड़े सरल सुबोध ढंग से उन्होंने इन शब्दों में व्याख्या की है—"धर्म क्या है? सत्य की खोज, आत्मा की जानकारी, अपने स्वरूप की पहचान, यही तो धर्म है। यही धर्म म यदि धर्म है तो वह यह नहीं सिखलाता कि मनुष्य मनुष्य से लड़े। धर्म नहीं सिखलाता कि पूँजी के मापदण्ड से मनुष्य छोटा या बड़ा है। धर्म नहीं सिखलाता कि कोई किसी का शोषण करे। धर्म यह भी नहीं कहता कि बाह्य आडम्बर अपनाकर मनुष्य अपनी चेतना को खो बैठे। किसी के प्रति दुर्भावना रखना भी यदि धर्म में शुमार हो तो वह धर्म किस काम का। वैसे धर्म से कोसों दूर रहना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।"

आज राजनीति का बोलबाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'राज' को केन्द्र में रख कर सारी नीतियाँ बन और चल रही हैं; जब कि चाहिए यह कि केन्द्र में मनुष्य रहे और सारी नीतियाँ उसी को लक्ष्य में रख कर संचालित हों। उस अवस्था में प्रमुखता मानव को होगी और वह तथा मानव-नीति राज और राजनीति के नीचे नहीं, ऊपर होगी। आज सबसे अधिक कठिनाइयाँ और गन्दगी इस कारण फैली हैं कि राजनीति जिसका दूसरा अर्थ है—सत्ता, पद, लोगों के जीवन का चरम लक्ष्य बन गई है और वे सारी समस्याओं का समाधान उसी में खोजते हैं। कहा जाता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो लोगों पर कम-से-कम शासन करती है; लेकिन इस सच्चाई को जैसे भुला दिया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री का स्पष्ट मत है—"राजनीति लोगों के जरूरत की वस्तु होती होगी। किन्तु सबका हल उसी में ढूंढना भयंकर भूल है। आज राजनीति सत्ता और अधिकारों को हथियाने की नीति बन रही है। इसीलिए उस पर हिंसा हावी हो रही है। इससे संसार सुखी तब होगा, जब ऐसी राजनीति घटेगी और प्रेम, समता तथा भाईचारा बढ़ेगा।"

वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास का पूरा अवसर मिले; लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि मनुष्य स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय यह नहीं है कि उसके ऊपर कोई अंकुश ही न हो और वह मनमानी करे। ऐसी स्वतन्त्रता तो अराजकता पैदा करती है और उससे समाज संगठित नहीं, छिन्न-भिन्न होता है। उनके कथनानुसार—"स्वतन्त्र वह है, जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपने स्वार्थ के पीछे नहीं चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुट में ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतन्त्र है।"

आगे वे फिर कहते हैं—"मैं किसी एक के लिए नहीं कहता। चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो; उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरों का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरों तले लिपटे रहें, स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं है।"

कुशल अनुशासक

वे किसी भी वाद के पक्षपाती नहीं हैं। वे नहीं चाहते कि मानव पर कोई भी ऐसा बाह्य बन्धन रहे, जो उसके मार्ग को अवरुद्ध और विकास को कुण्ठित करे। पर इससे यह न समझा जाए कि संगठन अथवा अनुशासन में उनका विश्वास नहीं है। वे स्वयं एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं और हजारों साधु-साध्वियों के सम्प्रदाय और शिष्य मण्डली के मुखिया हैं। उनके अनुशासन को देखकर विस्मय होता है। उनके साधु-साध्वियों में कुछ तो बहुत ही प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि के हैं; लेकिन क्या मजाल कि वे कभी अनुशासन से बाहर हों। जब किसी क्षुद्र स्वार्थ के लिए लोग मिलते हैं तो उनके गुट बनते हैं और गुटबन्दी कदापि श्रेयस्कर नहीं होती। इसी प्रकार वाद का अर्थ है, आँखों पर ऐसा चश्मा चढ़ा लेना कि सब चीजें एक ही रंग की दिखाई दें। कोई भी स्वाधीनचेता और विकासशील व्यक्ति न गुटबन्दी के चक्कर में पड़ सकता है और न वाद के। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के दीपक को लेकर भले ही वह कितना ही छोटा क्यों न हो, अपने मार्ग को प्रकाशमान करता रहे, जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाता रहे, यही उसके लिए अभीष्ट है।

वास्तविक स्वतन्त्रता का आनन्द वही ले सकता है, जो परिग्रह से मुक्त हो। अपरिग्रह की गणना पंच महाव्रतों में होती है। आचार्यश्री अपरिग्रह के

व्रती हैं। वे पैदल चलते हैं; यहाँ तक कि पैरों में कुछ भी नहीं पहनते। उन पास केवल सीमित वस्त्र, एकाध पात्र और पुस्तकें हैं। समाज में व्याप्त आर्थि विषमता को देख कर वे कहते हैं—"लोग कहते हैं कि जरूरत की चीजें क हैं। रोटी नहीं मिलती, कपड़ा नहीं मिलता। यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलत आदि आदि। मेरा ख्याल कुछ और है। मैं मानता हूँ कि जरूरत की चीजें क नहीं, जरूरतें बहुत बढ़ गई हैं, संघर्ष यह है। इसमें से अशान्ति की चिनगारिय निकलती हैं।"

अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त करते हुए वे आगे कहते हैं—"एक व्यक्ति महल में बैठा मौज करे और एक को खाने तक को न मिले, ऐसी आर्थि विषमता जनता से सहन न हो सकेगी।"

"प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने वाले इस वैज्ञानिक युग के लिए शर्म की बात है कि वह रोटी की समस्या को नहीं सुलझा सकता।"

आज का युग भौतिकता का उपासक बन रहा है। वह जीवन की चरम सिद्धि भौतिक उपलब्धियों में देखता है। परिणाम यह है कि आज उसकी निगाह धन पर टिकी है और परिग्रह के प्रति उसकी आसक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है। वह भूल गया कि यदि सुख परिग्रह में होता तो महावीर और बुद्ध क्यों राजपाट और दुनिया के वैभव को त्यागते और क्यों गांधी स्वेच्छा से अकिंचन बनते। सुख भोग में नहीं है, त्याग में है और गौरीशंकर की चोटी पर वही चढ़ सकता है, जिसके सिर पर बोझ की भारी गठरी नहीं होती। आचार्यश्री मानते हैं कि यदि आज का मनुष्य अपरिग्रह की उपयोगिता को जान ले और उस रास्ते पर चल पड़े तो दुनिया के बहुत से संकट अपने आप दूर हो जाएँगे।

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को शुद्ध बनाने के लिए आचार्यश्री ने कई वर्ष पूर्व अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया था और वह आन्दोलन अब देश-व्यापी बन गया है। उस नैतिक क्रान्ति का मूल उद्देश्य है कि मनुष्य अपने कषायों को देखे और उन्हें दूर करे। इसके साथ-साथ जो भी काम उसके हाथ में हो, उसके करने में नैतिकता का पूरा-पूरा आग्रह रखे। इस आन्दोलन को अधिक-से-अधिक व्यापक और सक्रिय बनाने के लिए आचार्यश्री ने बड़े परिश्रम और लगन से कार्य किया है और आज भी कर रहे हैं, चूंकि इस आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य मानव-जाति को सुखी बनाना है, इसलिए उसका द्वार सब के

लिए खुला है। उसमें किसी भी धर्म, मत अथवा सम्प्रदाय का व्यक्ति भाग ले सकता है। अणुव्रत के व्रतियों में बहुत से जैनेतर स्त्री-पुरुष भी हैं।

इसी आन्दोलन के अन्तर्गत प्रति वर्ष अहिंसा तथा मैत्री-दिवस भी देश भर में मनाये जाते हैं। जिससे तनाव का वातावरण सुधरे और यह इच्छा सामूहिक रूप से व्यक्त हो कि वास्तविक सुख और शान्ति हिंसा एवं वैर से नहीं, बल्कि अहिंसा और भाईचारे से स्थापित हो सकती है।

प्रभावशाली वक्ता और साहित्यकार

आचार्यश्री प्रभावशाली वक्ता तथा अच्छे साहित्यकार भी हैं। उनके प्रवचनों में शब्दों का आडम्बर अथवा कला की छटा नहीं रहती। वे जो बोलते हैं, वह न केवल सरल-सुबोध होता है, अपितु उसमें विचारों की स्पष्टता भी रहती है। जटिल-से-जटिल बात को वे बहुत ही सीधे-सादे शब्दों में कह देते हैं। कभी-कभी वे अपनी बात को समझाने के लिए कथा-कहानियों का आश्रय लेते हैं। वे कहानियाँ वास्तव में बड़ी रोचक एवं शिक्षाप्रद होती हैं।

आचार्यश्री आप कविताएँ भी लिखते रहते हैं। जब उन कविताओं का सामूहिक रूप में सस्वर पाठ होता है तो बड़ा ही मनोहारी वायुमण्डल उत्पन्न हो जाता है।

लेकिन वे प्रवचन करते हों अथवा गद्य-पद्य लिखते हों, उनके सामने मानव की मूर्ति सदा विद्यमान रहती है और मानवता के उत्कर्ष की उदात्त भावना उनके हृदय में हिलोरें लेती रहती है।

आचार्य विनोबा कहा करते हैं कि भूदान यज्ञ के सिलसिले में उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया है, लेकिन उन्हें एक भी दुर्जन व्यक्ति नहीं मिला। मानव के प्रति उनकी यह आस्था उनका बहुत बड़ा सम्बल है। यथार्थतः प्रत्येक व्यक्ति में सद् और असद् दोनों प्रकार की वृत्तियाँ रहती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सद्वृत्तियाँ सदा जागृत रहें और असद्वृत्तियों को मनुष्य पर हावी होने का अवसर न मिले।

आचार्यश्री तुलसी भी इसी विश्वास को लेकर चल रहे हैं। वे लोगों को अपने अन्दर आत्म-विश्वास पैदा करने की प्रेरणा देते हैं और कहते हैं कि इस दुनिया में कोई भी बुरा नहीं है। अच्छा काम करने की अपार हर

किसी में विद्यमान है।

आचार्यश्री के सामने वास्तव में बड़ा ऊँचा ध्येय है, पर मानना होगा कि कुछ मर्यादाएँ उनके कार्य की उपयोगिता को सीमित करती हैं। वे एक सम्प्रदाय विशेष के हैं; अतः अन्य सम्प्रदायों को अवसर है कि वे मानें कि वे उनके उतने निकट नहीं हैं। फिर वे आचार्य के पद पर बैठे हैं, जो सामान्य जनों के बराबर नहीं, बल्कि ऊँचाई पर है। इसके अतिरिक्त उनके सम्प्रदाय की परम्पराएँ भी हैं। यद्यपि उनके विकासशील व्यक्तित्व ने बहुत-सी अनुपयोगी परम्पराओं को छोड़ देने का साहस दिखाया है। तथापि आज भी अनेक ऐसी चीजें हैं जो उन पर बन्धन लाती हैं।

सहिष्णुता का आदर्श

जो हो, इन कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी जीवन-यात्रा बराबर अपने परम-लक्ष्य की सिद्धि की ओर ही रही है। उनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वे बहुत ही सहिष्णु हैं। जिस तरह वे अपनी बात बड़ी शान्ति से कहते हैं, उसी तरह वे दूसरे की बात भी उतनी ही शान्ति से सुनते हैं। अपने से मतभेद रखने वाले अथवा विरोधी व्यक्ति से भी बात करने में वे कभी उद्विग्न नहीं होते। मैंने स्वयं कई बार उनके सम्प्रदाय की कुछ प्रवृत्तियों की, जिनमें उनका अपना भी बड़ा हाथ रहता है, उनके सामने आलोचना की है; लेकिन उन्होंने हमेशा बड़ी आत्मीयता से समझाने की कोशिश की है। एक प्रसंग यहाँ मुझे याद आता है कि एक जैन विद्वान् उनके बहुत ही आलोचक थे। हम लोग बम्बई में मिले। संयोग से आचार्यश्री भी उन दिनों वहीं थे। मैंने उन सज्जन से कहा कि आपको जो शंकाएँ हैं और जिन बातों से आपका मतभेद है, उनकी चर्चा आप स्वयं आचार्यश्री से क्यों न कर लें? वे तैयार हो गये। हम लोग गये। काफी देर तक बातचीत होती रही। लौटते में उन सज्जन ने मुझ से कहा—"यशपालजी, तुलसी महाराज की एक बात की मुझ पर बड़ी अच्छी छाप पड़ी है।" मैंने पूछा—"किस बात की?" बोले, "देखिये मैं बराबर अपने मतभेद की बात उनसे कहता रहा, लेकिन उनके चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। एक शब्द भी उन्होंने जोर से नहीं कहा। दूसरे के विरोध को इतनी सहनशीलता से सुनना और सहना आसान बात नहीं है।"

अपने इस गुण के कारण आचार्यश्री ने बहुत से ऐसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, जो उनके सम्प्रदाय के नहीं हैं।

अपनी पहली भेंट से लेकर अब तक के अपने संसर्ग का स्मरण करता हूँ तो बहुत से चित्र आँखों के सामने घूम जाते हैं। उनसे अनेक बार लम्बी चर्चाएँ हुई हैं, उनके प्रवचन सुने हैं, लेकिन उनका वास्तविक रूप तब दिखाई देता है, जब वे दूसरों के दु:ख की बात सुनते हैं। उनका संवेदनशील हृदय तब मानो स्वयं व्यथित हो उठता है और वह उनके चेहरे पर उभरते भावों से स्पष्ट देखा जा सकता है।

पिछली बार जब वे कलकत्ता गये थे तो वहाँ के कतिपय लोगों ने उनके तथा उनके साधु-साध्वी वर्ग के विरुद्ध एक प्रचार का भयानक तूफान खड़ा किया था। उन्हीं दिनों जब मैं कलकत्ता गया और मैंने विरोध की बात सुनी तो आचार्यश्री से मिला। उनसे चर्चा की। आचार्यश्री ने बड़े विह्वल होकर कहा—"हम साधु लोग बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि हमारे कारण किसी को कोई असुविधा न हो।...स्थान पर हमारी साध्वियाँ ठहरी थीं, लोगों ने हम से आकर कहा कि उनके कारण उन्हें थोड़ी कठिनाई होती है। हम ने तत्काल साध्वियों को वहाँ से हटाकर दूसरी जगह भेज दिया। यदि हमें यह मालूम हो जाए कि हमारे कारण यहाँ के लोगों को परेशानी या असुविधा होती है तो हम इस नगर को छोड़कर चले जाएँगे।"

आचार्यश्री ने जो कहा, वह उनके अन्तर से उठकर आया था।

भारत-भूमि सदा से आध्यात्मिक भूमि रही है और भारतीय संस्कृति की गूँज किसी जमाने में सारे संसार में सुनाई देती थी। आचार्यश्री की आँखों के सामने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के चरम शिखर पर खड़े भारत का चित्र रहता है। अपने देश से, उसकी भूमि से और उस भूमि पर बसने वाले जन से, उन्हें बड़ी आशा है और सभी गहरे विश्वास के साथ कहा करते हैं—"वह दिन आने वाला है, जब कि पशु-बल से उकताई दुनिया भारतीय जीवन से अहिंसा और शान्ति की भीख मांगेगी।"

आचार्यश्री चिर जीवी हों और उनके हाथों मानवता की अधिकाधिक सेवा होती रहे, ऐसी हमारी कामना है।

किसी में विद्यमान है।

आचार्यश्री के सामने वास्तव में बड़ा ऊँचा ध्येय है, पर मानना होगा कि कुछ मर्यादाएँ उनके कार्य की उपयोगिता को सीमित करती हैं। वे एक सम्प्रदा विशेष के हैं; अतः अन्य सम्प्रदायों को अवसर है कि वे मानें कि वे उनके उतने निकट नहीं हैं। फिर वे आचार्य के पद पर बैठे हैं, जो सामान्य जनों के बराबर नहीं, बल्कि ऊँचाई पर है। इसके अतिरिक्त उनके सम्प्रदाय की परम्पराएँ भी है। यद्यपि उनके विकासशील व्यक्तित्व ने बहुत सी अनुपयोगी परम्पराओं को छोड़ देने का साहस दिखाया है। तथापि आज भी अनेक ऐसी चीजें हैं जो उन पर बन्धन लाती हैं।

सहिष्णुता का आदर्श

जो हो, इन कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी जीवन-यात्रा बराबर अपने चरम-लक्ष्य की सिद्धि की ओर हो रही है। उनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वे बहुत ही सहिष्णु हैं। जिस तरह वे अपनी बात बड़ी शान्ति से कहते हैं, उसी तरह वे दूसरे की बात भी उतनी ही शान्ति से सुनते हैं। अपने से मतभेद रखने वाले अथवा विरोधी व्यक्ति से भी बात करने में वे कभी उद्विग्न नहीं होते। मैंने स्वय कई बार उनके सम्प्रदाय की कुछ प्रवृत्तियों की, जिनमें उनका अपना भी बड़ा हाथ रहता है, उनके सामने आलोचना की है; लेकिन उन्होंने हमेशा बड़ी आत्मीयता से समझाने की कोशिश की है। एक प्रसंग यहाँ मुझे याद आता है कि एक जैन विद्वान् उनके बहुत ही आलोचक थे। हम लोग बम्बई में मिले। संयोग से आचार्यश्री भी उन दिनों वहीं थे। मैंने उन सज्जन से कहा कि आपको जो शंकाएँ हैं और जिन बातों से आपका मतभेद है, उनकी चर्चा आप स्वयं आचार्यश्री से क्यों न कर लें? वे तैयार हो गये। हम लोग गये। काफी देर तक बातचीत होती रही। लौटते में उन सज्जन ने मुझ से कहा—"यशपालजी, तुलसी महाराज की एक बात की मुझ पर बड़ी अच्छी छाप पड़ी है।" मैंने पूछा—"किस बात की?" बोले, 'देखिये मैं बराबर अपने मतभेद की बात उनसे कहता रहा, लेकिन उनके चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। एक शब्द भी उन्होंने जोर से नहीं कहा। दूसरे के विरोध को इतनी सहनशीलता से सुनना और सहना आसान बात नहीं है।"

अपने इस गुण के कारण आचार्यश्री ने बहुत से ऐसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, जो उनके सम्प्रदाय के नहीं हैं।

अपनी पहली भेंट से लेकर अब तक के अपने संसर्ग का स्मरण करता हूँ तो बहुत से चित्र आँखों के सामने घूम जाते हैं। उनसे अनेक बार लम्बी चर्चाएँ हुई हैं, उनके प्रवचन सुने हैं, लेकिन उनका वास्तविक रूप तब दिखाई देता है, जब वे दूसरों के दुःख की बात सुनते हैं। उनका संवेदनशील हृदय तब मानो स्वयं व्यथित हो उठता है और यह उनके चेहरे पर उभरते भावों से स्पष्ट देखा जा सकता है।

पिछली बार जब वे कलकत्ता गये थे तो वहाँ के कतिपय लोगों ने उनके तथा उनके साधु-साध्वी वर्ग के विरुद्ध एक प्रचार का भयानक तूफान खड़ा किया था। उन्हीं दिनों जब मैं कलकत्ता गया और मैंने विरोध की बात सुनी तो आचार्यश्री से मिला। उनसे चर्चा की। आचार्यश्री ने बड़े विह्वल होकर कहा—"हम साधु लोग बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि हमारे कारण किसी को कोई असुविधा न हो।...स्थान पर हमारी साध्वियाँ ठहरी थीं, लोगों ने हम से आकर कहा कि उनके कारण उन्हें थोड़ी कठिनाई होती है। हम ने तत्काल साध्वियों को वहाँ से हटाकर दूसरी जगह भेज दिया। यदि हमें यह मालूम हो जाए कि हमारे कारण यहाँ के लोगों को परेशानी या असुविधा होती है तो हम इस नगर को छोड़कर चले जाएँगे।"

आचार्यश्री ने जो कहा, वह उनके अन्तर से उठकर आया था।

भारत-भूमि सदा से आध्यात्मिक भूमि रही है और भारतीय संस्कृति की गूँज किसी जमाने में सारे संसार में सुनाई देती थी। आचार्यश्री की आँखों के सामने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के चरम शिखर पर खड़े भारत का चित्र रहता है। अपने देश से, उसकी भूमि से और उस भूमि पर बसने वाले जन से, उन्हें बड़ी आशा है और तभी गहरे विश्वास के साथ कहा करते हैं—"वह दिन आने वाला है, जब कि पशु-बल से उकताई दुनिया भारतीय जीवन से अहिंसा और शान्ति की भीख माँगेगी।"

आचार्यश्री शत जीवी हों और उनके हाथों मानवता की अधिकाधिक सेवा होती रहे, ऐसी हमारी कामना है।

बहुत समय तक स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के आधार पर जैन धर्म के लेखकों से अलग मार्ग रखा, वे भी बड़े चाव के साथ आचार्यजी के अणुव्रत-आन्दोलन के विशेष कार्यकर्ता बने हुए हैं। उनका यह सब प्रभाव देख कर आश्चर्य होता है कि राजस्थान के एक सामान्य परिवार में जन्म लेने वाला यह मनुष्य कितने विलक्षण व्यक्तित्व का स्वामी है, जिसने वामन की तरह से अपने चरणों से भारत के कई राज्यों की भूमि नापी है। इस समय देश में एक-दो व्यक्तियों को छोड़ कर आचार्य तुलसी पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने आचार्य विनोबा से भी अधिक पदयात्रा करके देश की स्थिति को जाना है और उसकी नब्ज देख कर यह चेष्टा की है कि किस प्रकार के प्रयत्न करने पर शान्ति प्राप्ति की जा सकती है। उनके जीवन-दर्शन में कभी विराम और विश्राम देखने का अवसर नहीं मिला। जब कभी भी उन्हें किसी अवसर पर अपना उपदेश करते देखा, तब उन्हें ऐसा देख पाया कि वे उस समारोह में बैठे हुए हजारों व्यक्तियों की भावना को पढ़ रहे हैं। उन सबका एक व्यक्ति किस प्रकार समाधान कर सकता है, यह उनकी विलक्षणता है। समारोहों में सभी लोग पूरी तरह से सुलझे हुए नहीं होते। उनमें संकीर्ण विचारधारा के व्यक्ति भी होते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने सम्प्रदाय विशेष को अन्य सभी मान्यताओं से विशेष मानते हैं। उन सब व्यक्तियों का इस प्रकार समाधान करना किसी साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। ग्रामों और कस्बों की अज्ञान परिधि में रहने वाले लोगों को, जिन्हें पगडंडी पर चलने का ही अभ्यास है, एक प्रशस्त राजमार्ग से उन्हें किसी विशेष लक्ष्य पर पहुँचा देना आचार्य तुलसी जैसे ही सामर्थ्यवान् व्यक्तियों के वश की बात है।

विरोधियों से नम्र व्यवहार

उनके जीवन की विलक्षणता इस बात से प्रगट होती है कि वे अपने विरोधियों की शंकाओं का समाधान भी बड़े आदर और प्रेमपूर्ण व्यवहार से करते हैं। कई बार उग्र और प्रचण्ड आलोचकों को मैंने देखा है कि आचार्यजी से मिलने के बाद उनका विरोध पानी की तरह से लुढ़क गया है।

र्यजी के दिल्ली आने पर मैं यही समझता था कि वे जो कुछ कार्य हैं, वह और साधु-महात्माओं की तरह से विशेष प्रभाव का कार्य नहीं

होगा। जिस तरह से सभा समाप्त होने पर, उस सभा की सभी कार्यवाही प्रायः सभा-स्थल पर ही समाप्त-सी हो जाती है, उसी तरह की धारणा मेरे मन में आचार्यश्री के इस आन्दोलन के प्रति थी।

कैसे निभाएँगे ?

आजकल जहाँ नगर-निगम का कार्यालय है, उसके बिल्कुल ठीक सामने आचार्यश्री की उपस्थिति में हजारों लोगों ने मर्यादित जीवन बनाने के लिए तरह-तरह की प्रेरणा व प्रतिज्ञाएँ ली थी। उस समय वह मुझे नाटक सा लगता था। मुझे ऐसी अनुभूति होती थी कि जैसे कोई कुशल अभिनेता इन मानवमात्र के लोगों को कठपुतली की तरह से नचा रहा है। मेरे मन में बराबर शंका बनी रही। इसका कारण प्रमुख रूप से यह था कि भारत की राजधानी दिल्ली में हर वर्ष इस तरह की बहुत-सी संस्थाओं के निकट आने का मुझे अवसर मिला है। उन संस्थाओं में बहुत-सी संस्थाएँ असमय में ही काल-कवलित हो गई। जो कुछ बचीं, वे आपसी दलबन्दी के कारण स्थिर नहीं रह सकीं। इसलिए मैं यह सोचता था कि आज जो कुछ चल रहा है, वह सब टिकाऊ नहीं है। यह आन्दोलन आगे नहीं पनप पायेगा। तब से बराबर अब तक मैं इस आन्दोलन को केवल दिल्ली ही में नहीं, सारे देश में गतिशील देखता हूँ। मैं यह नहीं कह सकता कि यह आन्दोलन अब किसी एक व्यक्ति का रह गया है। दिल्ली के देहातों तक में और यहाँ तक कि झुग्गी-झोंपड़ियों तक इस आन्दोलन ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। अब ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि जब यह मालूम दे कि यह आन्दोलन किसी एक व्यक्ति पर सीमित रह जाए। इस आन्दोलन ने सारे समाज में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि सभी वर्गों के लोग एक बार यह विचारने के लिए विवश हो उठते हैं कि आखिर इस समाज में रहने के लिए हर समय उन बातों की ओर जाना ठीक नहीं होगा, जिनका कि मार्ग पतन की ओर जाता है। अन्ततोगत्वा सभी लोग यह विचार करने पर मजबूर दिखाई देते हैं कि सबको मिल-जुलकर एक ऐसा रास्ता जरूर खोजना चाहिए, जिससे सभी का हित हो सके। समाज में इस तरह की चेतना प्रदान करने का श्रेय आचार्य तुलसी को ही दिया जा सकता है। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ उन हजारों लोगों के हृदयों पर बरबस विजय प्राप्त

करती है। जीवन की यही विशेष रूप से सफलता है, जिसे आचार्य तुलसी अपनी सतत साधना से प्राप्त कर सके हैं। अणुव्रत-आन्दोलन अब मनुष्य के जीवन की इतनी निकटता प्राप्त कर चुका है कि वह कुछ मामलों में एक सच्चे मित्र की तरह से समाज का मार्ग-दर्शन करता है। नहीं तो उसे दिल्ली और देश के दूसरे स्थानों में कैसे बढ़ावा मिलता और क्यों विद्यार्थी, महिलाएँ और दूसरे श्रमिक एवं धनिक वर्ग उसे अपनाते ? इससे यह प्रकट होता है कि आन्दोलन में कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है। बिना प्रभाव के यह आन्दोलन देशव्यापी नहीं बन सकता।

सतत साधना

अनेक बार आचार्यजी के पास बैठने पर ऐसा जान पड़ा कि वे जीवन-दर्शन के कितने बड़े पण्डित हैं, जो केवल किसी भी आन्दोलन को अपने तक ही सीमित रहने देना नहीं चाहते। अभी पिछले दिनों की बात है कि उन्होंने सुझाव दिया कि अणुव्रत-आन्दोलन के वार्षिक अधिवेशन का मेरी उपस्थिति में होना या न होना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। इस तरह से समाज के लोगों को अपने जीवन सुधारने की दिशा मे आचार्यजी ने बहुत बार प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह कहना कितना स्पष्ट है कि भविष्य में कोई व्यक्ति यह नहीं कहे कि यह कार्य आचार्यजी की प्रेरणा अथवा प्रभाव के कारण ही हो रहा है। वे चाहते है कि व्यक्तियों को किसी के साथ बंधकर आत्म-अभ्युदय का मार्ग नहीं खोजना चाहिए। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से प्रेरणा लेनी चाहिए। जीवन जिस ओर उन्हें प्रेरणा दे, वह काम उन्हें करना चाहिए। यह सब देखकर आचार्यजी को समझने मे सहायता मिल सकती है। वे उन हजारों साधुओं की तरह अपने सिद्धान्तों को ही पालन कराने के लिए दुराग्रही नहीं हैं, जैसा कि बहुत से लोगों को देखा गया है, जो अपने अनुयायियों को अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए ही विवश किया करते हैं। आचार्यजी के अनुयायियों में कांग्रेस, जनसंघ, कम्युनिस्ट, समाजवादी और [illegible] तक कि जो ईश्वरीय सत्ता मे विश्वास नहीं करते, ऐसे भी व्यक्ति हैं। [illegible] मानते हैं कि जो लोग अपने को नास्तिक कहते हैं, वे वास्तव में [illegible] नहीं हैं। इसलिए आचार्यजी के निकट जाने में सभी वर्गों के व्यक्तियों

को पूरी छूट रहती है। यह मैं अपने अनुभव की बात कर रहा हूँ।

प्रेरक व्यक्तित्व

उन्होंने आत्म-साधना से अपने जीवन को इतना प्रेरणामय बना लिया है कि उनके पास जाने से यह नहीं लगता कि यहाँ आकर समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ। जितनी देर कोई भी व्यक्ति उनके निकट बैठता है, उसे विशेष प्रेरणा मिलती है। उनकी यह एक और बड़ी विशेषता है जिसे कि मैं और कम व्यक्तियों मे देख पाया हूँ। वे जिस किसी व्यक्ति को भी एक बार मिल चुके हैं, दूसरी बार मिलने पर उन्हें कभी वह कहते हुए नहीं सुना गया कि आप कौन हैं? अपने समय में से कुछ-न-कुछ समय निकाल कर वे उन सभी व्यक्तियों को अपना शुभ परामर्श दिया करते है, जो उनके निकट किसी जिज्ञासा अथवा मार्ग दर्शन की प्रेरणा लेने के लिए जाते है। अनेक ऐसे व्यक्ति भी देखे हैं कि जो उनके आन्दोलन मे उनके साथ दिखाई दिये और बाद मे वे नहीं दीख पाये। तब भी आचार्यजी उनके सम्बन्ध मे उनकी जीवन-गतिविधि का किसी-न-किसी प्रकार से स्मरण रखते हैं। यह उनका विराट व्यक्तित्व है, जिसकी परिधि मे बहुत कम लोग आ पाते है। ऐसा जीवन बनाने वाले व्यक्ति भी कम होते हैं, जो ससार से विरक्त रह कर भी प्राणी-मात्र के हित-चिन्तन के लिए कुछ-न-कुछ समय इस काम पर लगाते हैं और यह सोचते हैं कि उनके प्रति स्नेह रखने वाले व्यक्ति अपने मार्ग से बिछुड़ तो नहीं गए हैं?

विशेषता

कभी-कभी उनके कार्य को देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि यह सब आचार्यजी किस तरह कर पाते हैं। कई वर्ष पहले की बात है कि दिल्ली के एक सार्वजनिक समारोह मे, जो आचार्यजी के सान्निध्य मे सम्पन्न हो रहा था, देश के एक प्रसिद्ध धनिक ने भाषण दिया। उन्होंने जीवन और धन के प्रति अपनी निस्सारता दिखाई। एक युवक उस धनिक की उस बात से प्रभावित नही हुआ। उसने भरी सभा मे उस धनिक का विरोध किया। उस समय पास मे बैठा हुआ मैं यह सोच रहा था कि यह युवक जिस तरह से उस धनिक के विरोध मे भाषण कर रहा है, इसका क्या परिणाम निकलेगा, जब कि उस धनिक के ही निवास स्थान पर आचार्यजी उन दिनों ठहरे हुए थे और उस

धनिक की ओर से ही आयोजित सभा की अध्यक्षता आचार्यजी कर रहे थे। पहले तो मुझे यह लगा कि आचार्यजी इस व्यक्ति को आगे नहीं बोलने देंगे; क्योंकि सभा में कुछ ऐसा वातावरण उस धनिक के विरोध कर्मचारियों ने उत्पन्न कर दिया था, जिससे ऐसा लगता था कि आचार्यजी को सभा की कार्यवाही स्थगित कर देनी पड़ेगी। किन्तु जब आचार्यजी ने उस व्यक्ति को सभा के विरोध होने पर भी बोलने का अवसर दिया तो मुझे यह आशका बनी रही कि सभा जिस गति से जिस ओर जा रही है, उससे यह कम आशा थी कि तनाव दूर होगा। अपने मालिक का एक भरी सभा मे निरादर देख कर कई जिम्मेदार कर्मचारियों के नथुने फूलने लगे थे। किन्तु आचार्यजी ने बड़ी युक्ति के साथ उस स्थिति को सम्भाला और जो सबसे बड़ी विशेषता मुझे उस समय दिखाई दी, वह यह थी कि उन्होंने उस नवयुवक को हतोत्साह नहीं किया, बल्कि उसका समर्थन कर उस नवयुवक की बात के औचित्य का सभा पर प्रदर्शन किया। यदि वहीं उस नवयुवक की इतनी कटु आलोचना होती तो वह समाप्त हो गया होता और राजनैतिक जीवन में कभी आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेता। किन्तु आचार्यजी की कुशलता से वह व्यक्ति भी आचार्यजी के सेवकों में बना रहा और उस धनिक का भी सहयोग आचार्यजी के आन्दोलन को किसी-न-किसी रूप मे प्राप्त होता रहा। ऐसे बहुत-से अवसर उनके पास बैठ कर देखने का अवसर मुझे मिला है, जब उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा बड़े-से-बड़े संघर्ष को चुटकी बजा कर टाल दिया। आजकल आचार्यजी जिस सुधारक पथ को उठा कर समाज में नव जागृति का सन्देश देना चाह रहे हैं, वह भी विरोध के बावजूद भी उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण सकीर्णता की सीमा को छिन्न-भिन्न करके आगे बढ़ रहा है। राजस्थान की मरुभूमि में आचार्यजी ने ज्ञान और निर्माण की अन्तःसलिला सरस्वती का नये सिरे से अवतरण कराया है, जिससे वह ज्ञान राजस्थान की सीमा को छू कर निकट के तीर्थों में भी अपना विशेष उपकार कर रहा है।

विशेष आवश्यकता

उत्तरप्रदेश के एक गाँव में जन्म लेने वाला मुझ-जैसा व्यक्ति आज यह विचार करता है कि आचार्य तुलसी जैसे अनुपम व्यक्तित्व की हजारों

वर्ष तक के लिए देश को आवश्यकता है। देश के जागरण में उनके प्रयत्न से जो प्रेरणा मिलेगी, उससे देश का बहुत-कुछ हित होगा। यह केवल मेरी अपनी ही धारणा नहीं है, हजारों व्यक्तियों का मुझ-जैसा ही विश्वास आचार्यश्री तुलसी के प्रति है। समाज के लिए यदि भगवान् महावीर की आवश्यकता थी तो बुद्ध के अवतरण से भी देश ने प्रेरणा पाई थी। उसी प्रकार समय-समय पर इस पुण्य भू पर अवतरित होने वाले महापुरुषों ने अपने प्रेरणास्पद कार्य से इस देश का हित चिन्तन किया। उस हित चिन्तन की आशा और सम्भावना से आचार्यश्री तुलसी हमारे समाज की उस सीमा के प्रहरी सिद्ध हुए हैं, जिससे समाज का बहुत हित हो सकता है। मेरी दृष्टि मे उनके आचार्य-काल के ये पच्चीस वर्ष कई कल्प के बराबर हैं। हजारों व्यक्ति इस भूमि पर जन्म लेते और मरते हैं। जीवन के सुख-दुःख और स्वार्थ में रह कर कोई भी यह नहीं जानता कि उन्होंने स्वप्न मे भी समाज पर कोई हित किया। इस प्रकार के क्षुद्र जीवन से आगे बढ़ कर जो हमारे देश मे महामनस्वी बन कर प्रेरणा प्रदान कर सके हैं, ऐसे व्यक्तियों में आचार्य तुलसी हैं। इनकी देश को युगों तक आवश्यकता है।

प्रमुख शिष्य

आचार्य तुलसी के जितने भी शिष्य हैं, वे सब यथाशक्ति इस बात में लगे रहते हैं कि आचार्यश्री ने जो मार्ग ससार के हित के लिए खोजा है, उसे घर-घर तक पहुँचाया जाए। इस कल्पना को साकार बनाने के लिए मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी आदि अनेक उनके प्रमुख शिष्यों ने विशेष यत्न किया है। ऐसा लगता है कि जो दीप आचार्यजी ने जला दिया है, वह जीवन को सयमी बनाने की प्रक्रिया मे सदैव सफल सिद्ध होगा। मेरी यही हार्दिक कामना है कि आचार्य तुलसी का अनुपम व्यक्तित्व सारे देश का मार्ग-दर्शन करता हुआ चिर स्थायी शान्ति की स्थापना मे सफल हो।

द्वितीय संत तुलसी

श्री रामसेवक श्रीवास्तव
सहसम्पादक, नवभारत टाइम्स, बम्बई

सन् १९५५ की बात है, जब अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी बम्बई में थे और कुछ दिनों के लिए वे मुलुण्ड (बम्बई का एक उपनगर) में किसी विशिष्ट समारोह के सिलसिले में पधारे हुए थे। यहीं पर एक प्रवचन का आयोजन भी हुआ था। सार्वजनिक स्थान पर सार्वजनिक प्रवचन होने के नाते मैं भी उसका लाभ उठाने के उद्देश्य से पहुँचा हुआ था।

प्रवचन में कुछ अनिच्छा से ही सुनने गया था क्योंकि इससे पूर्व मेरी धारणा साधुओं तथा उपदेशकों के प्रति, विशेषतया धर्मोपदेशकों के प्रति कोई बहुत अच्छी न थी और ऐसे प्रसंगों में प्राय महात्मा तुलसीदास की उस पंक्ति को दोहराने लगता था, जिसमें उन्होंने पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे कहकर पाखंडी धर्मोपदेशकों की अच्छी खबर ली है। परन्तु आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन के बाद जब मैंने उनको और उनके शिष्यों की जीवनचर्या का निकट से परीक्षण किया तब तो मैं स्वयं अपनी लघुता से बरबस इतना दब-सा गया कि आत्म-ग्लानि एक अभिशाप बन कर मेरे पीछे पड़ गई और आचार्यश्री तुलसी जैसे निरीह संत के प्रति अनजाने ही अश्रद्धा का भाव मन में लाने के कारण बड़ा पश्चात्ताप हुआ। मारे लज्जा के मैं कई दिनों तक फिर किसी ऐसे समारोह में गया ही नहीं।

मुनिश्री से भेंट

कुछ दिन बाद मुनिश्री नगराजजी की सेवा में पुनः उपस्थित होने का सौभाग्य मिला। उन्होंने मुझे अणुव्रत पर कुछ साहित्य तैयार करने की प्रेरणा दी। मैंने अपनी असमर्थता के साथ अपनी व्यस्तता का भी स्पष्ट निवेदन किया

और बताया कि अणुव्रत-आन्दोलन के किसी भी नियम की कसौटी पर मैं खरा नहीं उतर सकता; तब ऐसी स्थिति में इस विषय पर लिखने का मुझे क्या अधिकार है ? मुनिश्री ने कहा कि अणुव्रत का मूलाधार सत्य है और सत्य-भाषण कर आपने एक नियम का पालन तो कर ही लिया। इसी प्रकार आप अन्य नियमों का भी निर्वाह कर सकेंगे। मुझे कुछ प्रोत्साहन मिला और मैंने अणुव्रत तथा आचार्यश्री तुलसी के कतिपय ग्रन्थों का अध्ययन कर कुछ समझने की चेष्टा की और एक छोटा-सा लेख मुनिश्री की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। लेख अत्यन्त साधारण था, तो भी मुनिश्री की विशाल सहृदयता ने उसे अपना लिया। तब से अणुव्रत को महत्ता को कुछ आँकने का मुझे सौभाग्य मिला और मेरी यह भ्रान्ति भी मिट गई कि सभी धर्मोपदेशक तथा संत निरे परोपदेशक ही होते हैं। सच तो यह है कि गोस्वामी तुलसी की वाणी की वास्तविक सार्थकता मैंने आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन में प्राप्त की।

जीवन और मृत्यु

गोस्वामी तुलसी ने नैतिकता का पाठ सर्वप्रथम अपने गृहस्थ-जीवन में और स्वयं अपनी गृहिणी से प्राप्त किया था, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ से ही साधु-वृत्ति अपना कर अपनी साधना को नैतिकता के उस सोपान पर पहुँचा दिया है कि गृहस्थ और सन्यासी, दोनों ही उससे कृतार्थ हो सकते हैं। तुलसी-कृत रामचरितमानस की सृष्टि गोस्वामी तुलसी ने 'स्वान्त सुखाय' के उद्देश्य से की, किन्तु वह 'सर्वान्त सुखाय' सिद्ध हुआ, क्योंकि संतों की सभी विभूतियाँ और सभी कार्य अन्यों के लिए ही होते आये हैं—परोपकाराय सतां विभूतयः। फिर आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ से ही अपने सभी कृत्य परार्थ ही किये हैं और परार्थ को ही स्वार्थ मान लिया है। यही कारण है कि उनके अणुव्रत-आन्दोलन में वह शक्ति समायी हुई है जो परमाणु शक्ति सम्पन्न बम में भी नहीं हो सकती, क्योंकि अणुव्रत का लक्ष्य रचनात्मक एवं विश्वकल्याण है और आणविक अस्त्रों का तो निर्माण ही विश्व-संहार के लिए किया जाता है। एक जीवन है तो दूसरा मृत्यु। जीवन मृत्यु से सदा ही बड़ा सिद्ध हुआ है और पराजय मृत्यु की होती है, जीवन की नहीं। नागासाकी तथा हिरोशिमा में इतने बड़े विनाश के बाद भी जीवन हिलोरें ले रहा है और मृत्यु

पर अट्टहास कर रहा है।

वास्तविक मृत्यु

मानव की वास्तविक मृत्यु नैतिक ह्रास होने पर होती है। नैतिक आचरण से हीन होने पर वस्तुतः मनुष्य मृतक से भी बुरा हो जाता है, क्योंकि साधारण मृत्यु होने पर 'आत्मा' अमर बनी रहती है। न हन्यते हन्यमाने शरीरे (गीता) किन्तु नैतिक पतन हो जाने पर तो शरीर के जीवित रहने पर भी 'आत्मा' मर चुकती है और लोग ऐसे व्यक्ति को 'हृदयहीन', 'अनात्मवादी', 'मानवता के लिए कलंक' कहकर पुकार उठते हैं। इसी प्रकार नैतिकता से हीन राष्ट्र चाहे जैसा भी श्रेष्ठ शासनतन्त्र क्यों न अंगीकार करे, वह जनता की आत्मा को सुखी तथा सम्पन्न नहीं बना सकता। ऐसे राष्ट्र के कानून तथा समस्त सुधार-कार्य प्रभावकारी सिद्ध नहीं होते और न उनकी कृतियों में स्थायित्व ही आने पाता है; क्योंकि इन कृतियों का आधार सत्य और नैतिकता नहीं होती, अपितु एक प्रकार की अवसरवादिता अथवा अवसरसाधिका वृत्ति ही होती है। नैतिक संबल के बिना भौतिक सुख-साधनों का वस्तुतः कोई मूल्य नहीं होता।

अणु और अणुव्रत-आन्दोलन

आज के युग में आणविक शक्ति का प्राधान्य है और इसीलिए इसे अणु युग की संज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। विज्ञान आज अपनी चरम सीमा पर है और उसने अणुमात्र में ऐसी शक्ति खोज निकाली है, जो अखिल विश्व का संहार कुछ मिनटों में ही कर डालने में समर्थ है। इस सर्व-संहारकारी शक्ति से सभी भयभीत हैं और तृतीय विश्वव्यापी युद्ध के निवारणार्थ जो भी प्रयास प्रकारान्तर से आज तक किये जा रहे हैं, उनके पीछे भी भय की यही भावना समायी हुई है।

पश्चिमी राष्ट्रों की संगठित शक्ति से भयभीत होकर रूस ने पुनः आणविक अस्त्रास्त्रों के परीक्षण की घोषणा ही नहीं कर दी है, वस्तुतः वह दो बार परीक्षण कर भी चुका है। रूस के इस आचरण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अमरीका पर हुई है और अमरीका ने भूमिगत आणविक परीक्षण आरम्भ कर दिये हैं।

अमरीका अंतरिक्ष की होड़ में रूस से पहले ही पिछड़ा हुआ है और

इसलिए रूस को उस दिशा में और अधिक बढ़ने का मौका वह कदापि नहीं दे सकता। साथ ही विश्व के अन्य देशों पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई है और बेल्ग्रेड में आयोजित तटस्थ देशों का सम्मेलन इस घटना से कदाचित् अत्यधिक प्रभावित हुआ है; क्योंकि सम्मेलन शुरू होने के दिन ही रूस ने अपनी यह आतंककारी घोषणा की है। इस प्रकार आज का विश्व आणविक शक्ति के विनाशकारी परिणाम से बुरी तरह त्रस्त है। सभी और 'त्राहि-त्राहि'-सी मची हुई है; क्योंकि युद्ध शुरू हो चुकने पर कदाचित् कोई 'त्राहि-त्राहि' पुकारने के लिए भी शेष न रह जायेगा। इस विषम स्थिति का रहस्य है कि शान्ति के आवरण में युद्ध की विभीषिका सर्वत्र दिखाई पड़ रही है ?

परिग्रह और शोषण की जनयित्री

जब मानव भौतिक तथा शारीरिक सुखों की प्राप्ति के लिए पाशविकता पर उतर आता है और अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार का उसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं रहता, तब उसकी महत्त्वाकांक्षा परिग्रह और शोषण को जन्म देती है, जिसका स्वाभाविक परिणाम साम्राज्य अथवा प्रभुत्व-विस्तार के रूप में प्रकट होता है। अपने लिए जब हम आवश्यकता से अधिक पाने का प्रयास करते हैं, तब निश्चय ही हम दूसरों के स्वत्व के अपहरण की कामना कर उठते हैं, क्योंकि औरों की वस्तु का अपहरण किये बिना परिग्रह की भावना तृप्त नहीं की जा सकती। यही भावना औरों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को जन्म देती है जिसका व्यवहारिक रूप हम 'उपनिवेशवाद' में देखते हैं। शोषण की चरम स्थिति क्रान्ति को जन्म देती है, जैसा कि फ्रांस और रूस में हुआ और सम्पन्न हिंसा को ही हम मुक्ति का साधन मानने लगते हैं तथा साम्यवाद के सबल साधन के रूप में उसका प्रयोग कर शान्ति पाने की लालसा करते हैं, किन्तु शान्ति फिर भी मृग-मरीचिका बनी रहती है। यदि ऐसा न होता तो रूस शान्ति के लिए आणविक परीक्षणों का सहारा क्यों लेता और किसी भी समझौता-वार्ता की पृष्ठभूमि में शक्ति-सन्तुलन का प्रश्न क्यों सर्वाधिक महत्त्व पाता रहता ?

मिथ्याचरण

भारत के प्राचीन एवं अर्वाचीन महात्माओं ने सत्य और अहिंसा पर जो

अत्यधिक बल दिया है उसका मुख्य कारण मानव को युग का वह [illegible] प्राप्त कराना ही रहा है जहाँ तृष्णा और वितृष्णा का कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता। सभी धर्मों ने अपरिग्रह और त्याग पर अत्यधिक बल दिया है जो मूलतः सत्य और अहिंसा के ही अनुगामी हैं। मन की शान्ति के लिए मन का आचरण अनिवार्य बताया गया है - [illegible] (जैन), [illegible] (बौद्ध) [illegible] (वैदिक)।

धार्मिक धर्म मनसा वाचा और कर्मणा सदाचरण माना गया है और मन से भी प्रतिकूल आचरण करने वाले को 'पाखण्डी' तथा 'मिथ्याचारी' बताया गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥—गीता

मिथ्याचरण स्वयं अपने में एक छलना है, तब औरों में भी अविश्वास उत्पन्न करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

विश्व की महान् शक्तियाँ शान्ति के नाम युद्ध की धुन्ध रच ने जो तैयारियाँ कर रही हैं यह मिथ्याचरण का ही द्योतक है और इसीलिए पूर्व तथा पश्चिम में पारस्परिक विश्वास का नितान्त ह्रास होकर भय की भावना उद्दीप्त हो उठी है।

भारत में आज सर्वोत्कृष्ट प्रजातन्त्र विद्यमान होते हुए भी प्रजा (जनता) सुखी एवं सन्तुष्ट क्यों नहीं है ? मद्यनिषेध के लिए इतने कड़े कानून लागू होने पर और केन्द्र द्वारा इतना अधिक प्रोत्साहन किये जाने पर भी वह बारबार होता क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? भ्रष्टाचार रोकने के लिए प्रशासन की ओर से इतना अधिक प्रयास किये जाने पर भी वह कम होने के स्थान में बढ़ क्यों रहा है ? इन सबका मूल कारण मिथ्याचरण नहीं तो और क्या है ? आन्तरिक अथवा आत्मिक विकास किये बिना केवल बाह्य-विकास बन्धन-मुक्ति का साधन नहीं हो सकता। विज्ञान तथा अणु शक्ति का विकासमात्र ही उत्थान का एकमात्र साधन नहीं है।

अणु-शक्ति (विज्ञान) के साथ-साथ आज अणुव्रत (नैतिक आचरण) को अपनाना भी उतना ही, अपितु उससे कहीं अधिक महत्त्व रखता है, जितना महत्त्व हम विज्ञान के विकास को देते हैं और जिसे राजनीतिक स्वतन्त्रता के

बाद प्रायिक स्वतन्त्रता का मूलाधार भी मान बैठे हैं।

अणुव्रत के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या सन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, जीवन के आदि भागों में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है : यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है। यह निरपवाद सयम मार्ग है, जिसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है, वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—'भगवन् ! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत; द्वादश व्रतरूप गृही धर्म स्वीकार करूँगा।'[1]

यहाँ शक्ति का अर्थ है—विरक्ति। संसार के प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति जिसमें विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। यह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणु-रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है।

अणुव्रत का विधान व्रतों का सन्धीकरण या सयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

चारित्रिक आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन मूलतः चारित्रिक आन्दोलन है। नैतिकता और सदाचरण ही इसके मूलमंत्र हैं। आत्म-विवेचन और आत्म-परीक्षण इसके साधन

१. नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे भवित्ता पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।

—उपासकदशांग, अ० १

बाद आर्थिक स्वतन्त्रता का मूलाधार भी मान बैठे हैं।

अणुव्रत के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या सन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, जीवन के आदि भागों में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है। वह निरपवाद संयम मार्ग है, जिसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है, वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—"भगवन् ! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत; द्वादश व्रतरूप गृही धर्म स्वीकार करूँगा।"[1]

यहाँ शक्ति का अर्थ है—विरक्ति। संसार के प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति जिसमें विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। वह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणु-रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है।

अणुव्रत का विधान व्रतों का समीकरण या संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

चारित्रिक आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन मूलतः चारित्रिक आन्दोलन है। नैतिकता और सदाचरण ही इसके मूलमन्त्र हैं। आत्म-विवेचन और आत्म-परीक्षण इसके साधन

१. नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे भवित्ता पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।

—उपासकदशांग, अ० १

हैं। आचार्यश्री तुलसी के अनुसार यह आन्दोलन किसी सम्प्रदाय या धर्म-विशेष के लिए नहीं है। यह तो सबके लिए और सार्वजनीन है। अणुव्रत जीवन की वह न्यूनतम मर्यादा है जो सभी के लिए ग्राह्य एवं शक्य है। चाहे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, बड़े धर्मज्ञ हों या सामान्य सदाचारी, जीवन की न्यूनतम मर्यादा के बिना जीवन का निर्वाह सम्भव नहीं है। अनात्मवादी पूर्ण अहिंसा में विश्वास न भी करें किन्तु हिंसा अच्छी है, ऐसा तो नहीं कहते। राजनीति या कूटनीति को अनिवार्य मानने वाले भी यह तो नहीं चाहते कि उनकी पत्नियाँ उनसे छलनापूर्ण व्यवहार करें। असत्य और अप्रामाणिकता बरतने वाले भी दूसरों से सच्चाई और प्रामाणिकता की आशा करते हैं। बुराई मानव की दुर्बलता है, उसकी स्थिति नहीं। कल्याण ही जीवन का चरम सत्य है जिसकी साधना व्रत (आचरण) है। अणुव्रत-आन्दोलन उसी की भूमिका है।

अणुव्रत-विभाग

अणुव्रत पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार-संतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

१. अहिंसा—अहिंसा-अणुव्रत का तात्पर्य है—अनर्थ हिंसा से, अनावश्यकता शून्य केवल प्रमाद या अज्ञानजनित हिंसा से बचना। हिंसा केवल कायिक ही नहीं, मानसिक भी होती है और यह अधिक घातक सिद्ध होती है। मानसिक हिंसा में सभी प्रकार के शोषणों का समावेश हो जाता है और इसीलिए अहिंसा में छोटे-बड़े अपने-बिराने, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि विभेदों की परिकल्पना का निषेध अपेक्षित होता है।

२. सत्य—जीवन की सभी स्थितियों में नौकरी, व्यापार, घरेलू या राज्य अथवा समाज के प्रति व्यवहार में सत्य का साधारण अणुव्रती की मुख्य साधना होती है।

३. अचौर्य—सोभाविले मायपइ अदत्तम् (जैन), लोके अदिन्नं नादियति तमहं बूमि ब्राह्मणं (बौद्ध) अचौर्य में मेरी निष्ठा है, चोरी को मैं त्याज्य मानता हूँ। गृहस्थ जीवन में सम्पूर्ण चोरी से बचना सम्भव न मानते हुए अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है—१. मैं दूसरों की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूंगा, २. जान-बूझकर चोरी की वस्तु नहीं खरीदूंगा और न चोरी में सहायक बनूंगा, ३.

राज्यनिषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूँगा, ४. व्यापार में अप्रामाणिकता नहीं बरतूंगा।

४. ब्रह्मचर्य—१. तवेसु वा उत्तम बम्भचेरं (जैन), २. मा ते कामगुणे रमस्सु चित्त, (बौद्ध), ३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (वेद)।

ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति में एक पत्नीव्रत का पालन अणुव्रती के लिए अनिवार्य ठहराया गया है।

५. अपरिग्रह—(१) इच्छा हु आगाससमा अणंतया (जैन), (२) तण्हक्खयो सब्ब दुक्खं जिनाति (बौद्ध), (३) मा गृध कस्यस्विद्धनम् (वैदिक) परिग्रह का तात्पर्य संग्रह से है। किसी भी सद्गृहस्थ के लिए संग्रह की भावना से पूर्णतया विरत रहना असम्भव है; अतः अणुव्रत में अपरिग्रह से संग्रह का पूर्ण निषेध का तात्पर्य न लेते हुए अमर्यादित संग्रह के रूप में गृहीत है। अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है कि वह मर्यादित परिमाण से अधिक परिग्रह नहीं रखेगा। वह घूस नहीं लेगा। लोभवश रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय नहीं लगायेगा। विवाह आदि प्रसंगों के सिलसिले में दहेज नहीं लेगा, आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अणुव्रत विशुद्ध रूप में एक नैतिक सदाचरण है और यदि इस अभियान का सफल परिणाम निकल सका तो वह एक सहस्र कानूनों से कहीं अधिक कारगर सिद्ध होगा और भारत या अन्य किसी भी देश में ऐसे आचरण से प्रजातन्त्र की सार्थकता चरितार्थ हो सकेगी। प्रजातन्त्र धर्म-निरपेक्ष भले ही रहे, किन्तु जब तक उसमें नैतिकता के किसी मर्यादित माप-दण्ड की व्यवस्था की गुंजाइश नहीं रखी जाती, तब तक वह वास्तविक स्वतन्त्रता की सृष्टि नहीं कर सकता और न ही जनसाधारण के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है। स्वतन्त्रता की ओट में स्वच्छन्दता और आर्थिक उत्थान के रूप में परिग्रह तथा शोषण को ही खुलकर खेलने का मौका तब तक निस्सन्देह बना रहेगा, जब तक इस आणविक युग में विज्ञान की महत्ता के साथ-साथ अणुव्रत-जैसे किसी नैतिक बन्धन की महत्ता को भी भली-भांति आंका नहीं जाता। विश्व-शान्ति की कुञ्जी भी इसी नैतिक बन्धन में निहित है। वस्तुतः पंचशील, सह-अस्तित्व, धार्मिक सहिष्णुता अणुव्रत के अंगोपांग जैसे ही हैं। अतः आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन आज के अणुयुग की एक

विशिष्ट देन ही समझा जाना चाहिए।

भारत विश्व में यदि प्राचीन अथवा अर्वाचीन काल में किसी कारण सम्मानित रहा अथवा आज भी है तो अपने सत्य, त्याग, अहिंसा, परोपकार (अपरिग्रह) आदि नैतिक गुणों के कारण ही न कि अपनी सैन्य शक्ति अथवा भौतिक शक्ति के कारण। किन्तु आज देश में जो भ्रष्टाचार व्याप्त है और नैतिक पतन जिस सीमा तक पहुँच चुका है, उसे एक 'नेहरू का आवरण' कब तक ढंके रहेगा? एक दिन तो विश्व में हमारी कलई खुल कर ही रहेगी और तब विश्व हमारी वास्तविक हीनता को जान कर हमारा निरादर किये बिना न रहेगा। अतः भारतवासियों के लिए आणविक शक्ति के स्थान में आज अणुव्रत-आन्दोलन को शक्तिशाली बनाना कहीं अधिक हितकारी सिद्ध होगा और मानव, राष्ट्र तथा विश्व का वास्तविक कल्याण भी इसी में निहित है।

आचार्यश्री तुलसी का वह कथन, जो उन्होंने उस दिन अपने प्रवचन में कहा था, मुझे आज भी याद है कि 'एक स्थान पर जब हम मिट्टी का बहुत बड़ा और ऊँचा ढेर देखते हैं तब हमें सहज ही यह ध्यान हो जाना चाहिए, किसी अन्य स्थान पर इतना ही बड़ा और गहरा गड्ढा खोदा गया है।"

शोषण के बिना संग्रह असम्भव है। एक को नीचे गिराकर दूसरा उन्नति करता है। किन्तु जहाँ बिना किसी का शोषण किये, बिना किसी को नीचे गिराये सभी एक साथ आत्मोन्नति करते हैं, वही है जीवन का सच्चा और शाश्वत मार्ग।

'अणुव्रत' नैतिकता का ही पर्याय है और उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी महात्मा तुलसी के पर्याय कहे जा सकते हैं।

परम साधक तुलसीजी

श्री रिषभदास रांका
सम्पादक, जैन जगत

बारह साल पहले मैं आचार्यश्री तुलसीजी से जयपुर में मिला था। तभी से परस्पर में आकर्षण और आत्मीयता बराबर बढती रही है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से इच्छा रहते हुए भी मैं जल्दी-जल्दी नहीं मिल पा रहा हूँ, फिर भी निकटता का सदा अनुभव होता रहता है और आज भी उस अनुभव का आनन्द पा रहा हूँ।

व्यक्ति का जन्म कब हुआ और उसकी कितने साल की उम्र हुई, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। पर उसने अपने जीवन में जो कुछ वैशिष्ट्य प्राप्त किया, कोई विशेष कार्य किया हो, वही महत्त्वपूर्ण बात है।

इस जिम्मेदारी को सौंपते समय उनकी आयु बहुत बडी नहीं थी। उनके सम्प्रदाय में उनसे वयोवृद्ध दूसरे संत भी थे; परन्तु उनके गुरु कालूगणीजी ने योग्य चुनाव किया, यह तुलसीजी ने आचार्य-पद के उत्तरदायित्व को उत्तम प्रकार से निभाया, इससे सिद्ध हो गया।

कुछ आशंकाएँ

जैसे किसी तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर, मसीहा ने जो उपदेश दिया हो उसको समयानुसार व्याख्या करने का कार्य आचार्य का होता है। उसे तुलसीजी ने बहुत ही उत्तम प्रकार से किया, यह कहना ही होगा। कुछ लोग उन्हें प्राचीन परम्परा के उपासक मानते हैं और कुछ उस परम्परा में क्रान्ति करने वाले भी। पर हम कहते हैं कि वे दोनों भी जो कहते हैं, उसमें कुछ-न-कुछ सत्य जरूर है, पर पूर्ण सत्य नहीं है। तुलसीजी पुरानी परम्परा या परिपाटी चलाते हैं, यह ठीक है; पर शाश्वत सनातन धर्म को नये शब्दों में कहते हैं,

यह भी असत्य नहीं है। कई लोगों को इसमें छल दिखाई देता है तो कइयों को दम्भ। उनका कहना है कि यह सब अपना सम्प्रदाय बढ़ाने के लिए है। लेकिन तुलसीजी छल या माया का आश्रय लेकर अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हों, ऐसा हमें नहीं लगता। क्योंकि उनमें हमें इस समझ के दर्शन हुए हैं कि कुछ व्यक्तियों को तेरापंथी या जैन बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की विशेषता का व्यापक प्रचार करना ही श्रेयस्कर है। उनमें इच्छा जरूर है कि अधिक लोग नीतिवान्, चरित्रशील व सद्गुणी बनें। यदि व्यापक क्षेत्र में काम करना हो तो सम्प्रदाय-वृद्धि का मोह बाधक ही होता है।

यदि आज कोई किसी को अपने सम्प्रदाय में खींचने की कोशिश करता है तो हमें उस पर तरस आता है। लगता है कि वह कितना बेसमझ है और तत्त्वों के प्रचार की एवज में परम्परा से चली आई रूढ़ियों के पालन में धर्म-प्रचार मानता है। हमें उनमें ऐसी संकुचित दृष्टि के दर्शन नहीं हुए। इसलिए हम मानते हैं कि उनमें छल सम्भव नहीं है।

दम्भ या प्रतिष्ठा-मोह के बारे में कभी-कभी चर्चा होती है। उनके प्रतिकूल विचार रखने वाले कहते हैं कि वे जैसा जो आदमी हो, वैसी बात करते हैं। मन में एक बात हो और दूसरा भाव प्रकट करना दम्भ ही तो है। यदि इतने साल परिश्रम कर यही साधना की हो तो रत्न को चन्द रुपयों में बेचने जैसा ही है। जब साधना के मार्ग में दम्भ से बढ़ कर कोई दूसरा बाधक दुर्गुण न हो, तब तुलसीजी जैसा साधक—विकास मार्ग का प्रतीक—इसी दम्भ में उलझ जायेगा, विश्वास नहीं होता। हमने देखा है कि उनसे चर्चा करने के लिए आने वालों में कई बहुत उत्तेजित होकर ऐसी बातें भी कह बैठते हैं जो सहसा सभ्य और सुसंस्कारी व्यक्ति के मुँह से नहीं निकल सकती, फिर भी वे गरम नहीं होते, उन्हें उत्तेजित होते हमने नहीं देखा। यह शान्ति साधना द्वारा प्राप्त है या दिखावा? हमारी यह हिम्मत नहीं कि हम उसे दिखावा कहें।

रही प्रतिष्ठा या बड़प्पन की भूख की बात, सो इस विषय में कई भाइयों के मन में गलतफहमी है कि उनके शिष्य बड़े-बड़े लोगों को लाकर इतना व्यापक प्रचार क्यों करते हैं? क्या यह बात आत्म-विकास में लगे हुए साधक के लिए उचित है? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। आज विज्ञापन का युग है। अच्छी बात भी बिना प्रचार के आगे नहीं बढ़ती। यदि मानते

रच्छी प्रवृत्तियों या आन्दोलन के प्रचार के हेतु यह सब किया जाता हो तो या उसे अयोग्य या त्याज्य माना जा सकता है ?

प्रतिष्ठा का मोह ऐसा है, जिसका त्याग करता हुआ दिखने वाला कई ार उसका त्याग उससे अधिक पाने की आशा से करता है। दूसरे पर आक्षेप करते समय हम अपना आत्म निरीक्षण करें, तो पता लगेगा कि हमारी कहनी और करनी में कितना अन्तर है। हमें कई बार अपने-आपको समझने में कठिनाई होती है। लोकैषणा को त्यागने का प्रयत्न करने वाले ही जानते हैं कि ज्यों-ज्यों बाह्य-त्याग का प्रयत्न होता है, त्यों-त्यों वह अन्तर मे जड़ जमाता है। यह बात अपना मानसिक विश्लेषण, अपनी प्रवृत्तियों का निरीक्षण-परीक्षण करने वाला ही जानता है। कई बार त्याग किये हुए ऐसा दिखाई देने वाले के हृदय मे भी उसकी कामना होती है तो कई बार बाहर से दी हुई प्रतिष्ठा का भी जिसके हृदय पर असर न हुआ हो ऐसे साधक भी पाये जाते हैं। इस लिए तुलसीजी के हृदय में प्रतिष्ठा का मोह है या धर्म-प्रसार की चाह, इसका निर्णय हम जैसो को करना कठिन है, इसलिए इस बात को उन्हीं पर छोड़ दें, यही श्रेष्ठ है।

कर्मठ जीवन

उन्होने जो धवल समारोह के निमित्त से वक्तव्य दिया, वह हमने देखा। वह भाषा दिखावे की नहीं लगती, हृदय के उद्गार लगते हैं। हमारी जब-जब बात हुई, हमने जो चर्चा की, वह आन्तरिक और साधना से सम्बन्धित ही रही है। हां, कुछ समाज से सम्बन्धित होने से सामाजिक चर्चा भी हुई, पर अधिकांश साधना से सम्बन्धित होती रही है। इसलिए हम उन्हें 'परम साधक' मानते आये हैं और कोई अब तक ऐसा प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ कि हमें अपने मत को बदलना पड़ा हो। हमे उनमें कई गुणों के दर्शन हुए। ऐसी संगठन-चातुरी, गुणग्राहकता, जिज्ञासावृत्ति, परिश्रमशीलता, अध्यवसाय व शान्ति बहुत कम लोगों में पाई। हमने प्रत्यक्ष में उन्हें बारह-बारह, चौदह-चौदह घण्टे परिश्रम करते देखा है। कई बार हमने उनके भक्तों से कहा कि इस प्रकार वे उन पर अत्याचार न करें। वे सवेरे चार बजे उठ कर रात को ग्यारह बजे तक बराबर काम करते हैं, लोगों से चर्चा या वार्ता होती रहती है। हमने देखा, न तो दिन

को वे आराम करते हैं और न अपने साधुओं को करने देते हैं। ध्यान, चिन्तन अध्ययन, व्याख्यान, चर्चा चलती ही रहती है। फिर जैन साधुओं की चर्या ऐसी होती है जिसमें स्वावलम्बन ही अधिक रहता है। सभी धार्मिक क्रियाएँ चलती रहती हैं। इतने परिश्रम के बाद भी सन्तुलन न खोना कोई आसान बात नहीं है। कोई उनके साथ दो-चार रोज रहकर देखे तभी पता चल सकेगा कि वे कितने परिश्रमी हैं और यह बिना साधना के सम्भव नहीं है।

उन्होंने अपने साधुओं तथा साध्वियों को पठन-पाठन, अध्ययन तथा लेखन मे निपुण बनाने मे काफी परिश्रम और प्रयत्न किये। उनके साधु केवल अपने सम्प्रदाय या धर्म ग्रन्थो या तत्वो से ही परिचित नही, पर सभी धर्मों और वादो से परिचित हैं। उन्होने कई अच्छे व्याख्याता, लेखक, कवि, कलाकार तथा विद्वानो का निर्माण किया है। केवल साधुओं को ही नहीं, श्रावक तथा श्राविकाओं को भी प्रेरणा देकर आगे बढ़ाया है।

आचार्य का कार्य

राजस्थान और राजस्थान में भी थली जैसा प्रदेश, ऐसा समझा जाता है, जहाँ पुराने रीति-रिवाज और रूढ़ियो का ही प्राबल्य है। उस राजस्थान में पर्दा तथा सामाजिक रीति-रिवाजो को बदलने की प्रेरणा देना सामान्य बात नहीं है, पर अत्यन्त कठिन कार्य है। उन्होने पर्दा प्रथा तथा सामाजिक कुरीतियो के प्रति समाज को सजग कर नया मोड दिया है। जैसे प्रगतिशील युवकों को लगता है कि वही पुरानी दवाई नई बोतल में भरकर दे रहे हैं, उसी तरह परम्परावादियो को लगता है कि साधुओं का यह क्षेत्र नहीं, यह तो श्रावकों का—गृहस्थियों का काम है। उनका क्षेत्र तो धार्मिक है। वे इस झंझट में क्यों पड़ते हैं। पर प्रगतिशील तथा परम्परावादियो के सिवा एक वर्ग ऐसे लोगों का भी है जो प्राचीन संस्कृति मे विश्वास या निष्ठा रखते हुए भी अच्छी बात जहाँ से भी प्राप्त हो, लेना या ग्रहण करना श्रेयस्कर मानता है। उन्हें ऐसा लगता है कि तुलसीजी आचार्य हैं और आचार्य का कार्य है, धर्म की समयोपयोगी व्याख्या करने का, सो वे कर रहे हैं।

उन्होने केवल जैनियों के लिए ही किया है, सो बात नहीं है। वे राष्ट्रीय ही नही, अपितु मानव-समाज की दृष्टि से ही कार्य कर रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन उसी का परिणाम है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-समाज जिन जीवन-मूल्यों को भुला रहा था, उसे स्थापित करता है। मानव का प्रारम्भ से सुख-प्राप्ति का प्रयत्न रहा है। ऋषि-मुनि सत साधक और मार्ग-द्रष्टा तीर्थंकर यह बताते आये हैं कि मनुष्य सद्‌गुणों को अपनाने से ही सुखी हो सकता है। सुख के भौतिक या बाह्य साधनों से वह सुखी होने का प्रयत्न करता तो है, लेकिन वे उसे सुखी नहीं बना सकते। सुखी बना जा सकता है, सद्‌गुणों को अपनाने से। अणुव्रत उसे सच्ची दृष्टि देता है। केवल किसी बात की जानकारी होने मात्र से काम नहीं चलता, पर जो ठीक बात हो, उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न हो, विचारों को आचार की जोड मिले, तभी उसका उचित फल प्राप्त होता है। अणुव्रत केवल जीवन की सही दिशा नहीं बताता, पर सही दिशा में प्रयाण करने का संकल्प करवाता है और प्रयत्नपूर्वक प्रयाण करवाता है।

शुभ की ओर प्रयाण

भारत में सदा से जीवन-ध्येय बहुत उच्च रहा है, पर ध्येय उच्च रहने पर यदि उसका आचार सम्भव न रहे तो वह ध्येय जीवनोपयोगी न रह कर केवल वन्दनीय रह जाता है। पर अणुव्रत केवल उच्च ध्येय, जिसका पालन न हो सके, ऐसा करने को नहीं कहता। पर वह कहता है, उसको जितनी पात्रता हो, जो जितना ग्रहण कर सके, उतना करे। प्रारम्भ भले ही अणु से हो, पर जो निश्चिय किया जाये, उसके पालन में दृढ़ता होनी चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत शुभ की ओर प्रयाण का दृढ़तापूर्वक उठाया हुआ पहला कदम है।

मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि संकल्प पूरा करने पर आत्म-विश्वास बढ़ता है और विकास की गति में तेजी आती है। इसलिए अणुव्रत भले ही छोटा दिखाई पड़े, लेकिन जीवन-साधना के मार्ग में महत्त्वपूर्ण कदम है। इस दृष्टि से आचार्यश्री तुलसीजी ने अणुव्रत को नये रूप में समाज के सम्मुख रख कर उसके प्रचार में अपनी तथा अपने शिष्य-समुदाय और अनुयायियों की शक्ति लगाई। आज के जीवन के सही मूल्य भुलाये जाने वाले जमाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। यदि इस आन्दोलन पर वे सारी शक्ति केन्द्रित कर इसे सफल कर सके तो केवल धर्म या सम्प्रदाय का ही नहीं, अपितु मानव-जाति का बहुत बड़ा

कल्याण कर सकते हैं। किन्तु हमने देखा है कि आन्दोलन को जन्म देने वाले या शुरू करने वाले जब विभिन्न प्रवृत्तियों में शक्ति को बांट देते हैं, तब वह कार्य चलता हुआ दिखाई देने पर भी प्राणरहित, परम्परा से चलने वाली रूढ़ियों की तरह जड़ बन जाता है।

भारत का महान् अभियान

यदि अणुव्रत-आन्दोलन को सजीव तथा सफल बनाने के उद्देश्य से आचार्यश्री अपना सारा ध्यान इस पर केन्द्रित कर पूरी शक्ति से इस कार्य को करेंगे तो वह भारत का महान् अभियान होगा, जो अशान्त संसार को शान्त करने का महान् सामर्थ्य रखता है।

हमारा तुलसीजी की शक्ति में सम्पूर्ण विश्वास है। वे महान् अभियान को गतिशील बनाने का प्रयास करें, जिससे अशान्त मानव शान्ति की ओर प्रस्थान कर सके।

हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि आचार्य तुलसीजी को दीर्घायु तथा स्वास्थ्य प्रदान कर, ऐसी शक्ति दे, जिससे उनके द्वारा अपने विकास के साथ-साथ